संस्कृति के वातायन

कलानाथ शास्त्री

निर्मल प्रकाशन, जयपुर

प्रकाशक
निर्मल प्रकाशन
34, कल्याण कॉलोनी, टोंक फाटक, जयपुर

संस्कृति के वातायन

संस्करण प्रथम-अक्टूबर 84

मूल्य-तीस रुपए

मुद्रक—मनोज प्रिन्टर्स, जयपुर
फोन : 67967

आवरण पृष्ठ मुद्रक—जुबली प्रिन्टर्स, जयपुर

आवरण डिजाइन—आर. बी. गौतम

राजस्थानी एवं हिन्दी साहित्य के प्रणेता विद्वान
स्व. श्री भगवानदत्त गोस्वामी को प्रेरणामयी
मधुर स्मृति को सादर समर्पित।

▢ निर्मल प्रकाशन

क्रम

प्रकाशक की बात

भारतीय सांस्कृतिक परिदृश्य और गहन परम्परागत मूल्यों से समन्वित कृति "संस्कृति के वातायन" निर्मल प्रकाशन की प्रथम गौरव-प्रस्तुति है जिसे हिन्दी, संस्कृत एवं आंग्ल भाषा के मूर्धन्य विद्वान् श्री कलानाथ शास्त्री की चिन्तनपरक सुबोध दृष्टि मिली है। इधर दीर्घकाल से प्रकाशक का अभीष्ट रहा है कि भारतीय संस्कृति के चिरंतन विचार और सामाजिक परम्पराओं की मौलिक व्याख्या को व्यापक सारगर्भित सदर्भों में प्रस्तुत किया जाये, ताकि मूल्यों के तथाकथित विघटन के आत्मघाती शोर-शराबे को सबल आधारों पर रोकने का सांस्कृतिक समानान्तर प्रयास हो। संस्कृति श्रेष्ठ जीवन पद्धति के आविष्कार की सामाजिक चेष्टा है और भारतीय संस्कृति ने दीर्घकाल तक इस निष्ठा से निरत अस्मिता को बनाये रखा है। इस दिशा में शास्त्री जी की यह पुस्तक राष्ट्रीय चिन्तन, लोकपर्व, सांस्कृतिक विभूतियां, पुरुषार्थ आदि विचारों को आधुनिक अर्थों में न केवल उजागर करने में समर्थ हुई है बल्कि इससे व्यापक पाठक समुदाय को निश्चित ही दिशा बोध मिल सकेगा।

निर्मल प्रकाशन अपनी भावी प्रकाशन-योजना में भारतीय संस्कृति, साहित्य एवं कला के साथ-साथ राजनैतिक विचारों से जुड़े चिन्तन को अपने पाठकों के लिये प्रस्तुत करने का संकल्प रखता है। इसी क्रम में हम शीघ्र कविता, कला तथा कहानी व आलोचना से जुड़े भारतीय स्तर के लेखकों की पुस्तकों को प्रकाशित करने का प्रयास कर रहे है।

आशा है संस्कृति के वातायन पुस्तक 'निर्मल प्रकाशन' की प्रथम पुष्पांजलि के रूप में सुधी पाठकों के मन को न केवल विशद शैली से छू सकेगी बल्कि एक वैचारिक संवाद जगाने में भी समर्थ होगी। इस संबन्ध में पाठकों की सम्मति का सदैव स्वागत है।

सुधा तैलंग
निर्मल प्रकाशन, जयपुर

दि. 2 अक्टूबर (गांधी जयन्ती)

पुस्तक-परिदृश्य

उग्राग भौतिक और सांस्कृतिक परिवर्तन के इस संक्रमण-काल में भारतीय संस्कृति के मूल स्वरों की पहचान एक सामयिक अनिवार्यता है। हमारे अपने सांस्कृतिक मूल्य वस्तुतः क्या हैं, भारतीय परम्पराओं और चिन्तन का वैज्ञानिक आधार क्या है और हमारी आस्थाएं आज जिन नींवों पर खड़ी हैं—उनकी मौलिक अवधारणा क्या थी—इस महत्त्वपूर्ण पक्ष पर हिन्दी में अधिक सामग्री उपलब्ध नहीं है।

परम्परा के विकास और संस्कृति के प्रचलित विश्वास रूपों को भारतीय सन्दर्भों में सरलीकृत ढंग से रेखांकित करने वाली स्तरीय पुस्तकें केवल प्रकाशन की एक तात्कालिक जरूरत को पूरा करने के लिए ही उपयोगी नहीं, बल्कि ये उस पीढ़ी के लिए भी, जो बदलाव के इस तेज रफ्तार युग में अपनी पहचान खो रही है—बहुत अधिक प्रासंगिक हैं।

भारतीय और पश्चिमी साहित्य, परम्परा संस्कृति और भाषा-विज्ञान के प्रख्यात विद्वान श्री कलानाथ शास्त्री की इस पुस्तक के माध्यम से हम एक बहुत बड़े सांस्कृतिक परिदृश्य मे प्रवेश करते है जिसमे उन्होंने हमारी धार्मिक आस्थाओं, सामाजिक पर्वों, सामाजिक और राजनैतिक विश्वासों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का गहरी विद्वत्ता मे विवेचन किया है।

इन वस्तुनिष्ठ सांस्कृतिक निबन्धों मे एक ओर जहा जनतंत्र, अस्पृश्यता, राष्ट्रीय चेतना जैसे समकालीन महत्त्व के विषयों का आकलन है वहा दूसरी ओर हमारे धर्म, पर्वों और देवी देवताओं के सांस्कृतिक महत्त्व का भी परिचय दिया गया है।

"संस्कृति" की अवधारणा अपने आपमें जितनी संश्लिष्ट है, उसके ठीक विपरीत "संस्कृति के वातायन" में इसे असाधारण सौम्य और बोधगम्य लहजे मे अभिव्यक्त किया गया है। यह बात इसलिए भी प्रीतिकर है क्योंकि अमूमन परम्परा, दर्शन या संस्कृति पर अब तक की पुस्तकें पाठ्यक्रमी अथवा अमूर्त दर्शन-शास्त्रीय शब्दजाल में उलझ कर अपनी सम्प्रेषणीयता खोती दीख पड़ती है। प्रस्तुत निबन्धों की शैलीगत सरलता प्रकारान्तर से इस विषय पर लेखकीय-अधिकार की सूचना ही हैं।

एक सम्प्रदाय निरपेक्ष और बौद्धिक साक्षात्कार के बतौर इस पुस्तक का प्रकाशन हिन्दी साहित्य की बड़ी उपलब्धि है। इस संकलन का सभी क्षेत्रों मे पर्याप्त सत्कार होगा यह बात असंदिग्ध है।

जयपुर
2 अक्टू० 84
गांधी जयंती

न्यायमूर्ति सुरेन्द्रनाथ भार्गव
न्यायाधिपति
राजस्थान उच्च न्यायालय

भूमिका

संस्कृति के बारे में चिन्तन और लेखन शताब्दियों से होता आया है। यह बात अलग है कि जिसे हम आज अंग्रेजी के कल्चर शब्द के अनुवाद के रूप में संस्कृति कहते हैं उसका नाम कुछ वर्षों पूर्व तक कुछ और रहा होगा। उसकी अर्थ-छायाएं बदलती रही हैं, चिन्तन बरकरार रहा है। वैसे संस्कृति की एक अर्थछाया सांस्कृतिक कार्यक्रम शब्द में देखी जा सकती है जिसका तात्पर्य नृत्य-गान आदि तक सीमित हो गया। भारतीय संस्कृति के समस्त पक्षों पर हिन्दी में बहुत कुछ लिखा गया है किन्तु उसकी सीमाएं यह रही हैं कि इस विषय के आधुनिक चिन्तक प्राचीन भारत की उन परम्पराओं, अवधारणाओं, मान्यताओं और वचनों से पूर्णत: और साक्षात् परिचित नहीं है जो संस्कृत भाषा में उपलब्ध हैं। दूसरी ओर पुरानी परिपाटी के संस्कृत पंडित जो धर्म, संस्कार, आचार, शास्त्र आदि के मूल ग्रन्थों का गहन अध्ययन करते रहे हैं, पांडित्य के साथ बहुधा जुड़ जाने वाली उस रूढिवादिता और दृष्टिकोण की सीमा में कभी-कभी बंध जाते हैं जो व्यापक विश्व दृष्टि के परिप्रेक्ष्य में इन समस्याओं पर चिन्तन की सम्भावनाओं को अर्गला लगा देती है। आज का तर्कजीवी युवक रूढ़ियों और पुरानी मान्यताओं को केवल शब्द-प्रामाण्य के आधार पर आंख मीचकर नहीं मान सकता। साथ ही संस्कृति और परम्पराओं का महत्व समझने की जो लहर पिछले वर्षों में आई है उसे देखते हुए उसमें यह जिज्ञासा भी जागी है कि ये परम्पराएं क्या हैं।

आवश्यकता इस बात की है कि ऐसे जिज्ञासुओं तक हमारी सांस्कृतिक परम्पराओं को उस सरल व्याख्या के साथ और उस व्यापक विमर्श दृष्टि के साथ उसकी भाषा में पहुंचाया जाए जिससे वह न केवल उनके वास्तविक रूप से परिचित हो सके बल्कि आज के प्रसंग में उनकी अर्थवत्ता के बारे में भी स्वयं अपने निष्कर्ष निकाल सके। संस्कृत के एक अध्येता होने के साथ-साथ हिन्दी, अंग्रेजी, बंगला आदि भाषाओं में समानान्तर चिन्तन का अध्ययन करने के बाद मैंने भी ऐसे सांस्कृतिक तत्वों पर अपनी दृष्टि से अधिकाधिक निष्पक्ष वस्तुनिष्ठ और संप्रदायमुक्त चिन्तन का प्रयत्न किया और समय-समय पर उनसे सम्बन्धित कुछ विषयों के सम्बन्ध में आकाशवाणी के जयपुर केन्द्र से उनके चाहने पर वार्ताएं प्रसारित की, कुछ पत्र-पत्रिकाओं में उनके चाहने पर कुछ ऐसे विषयों पर

एक परिचायक की भूमिका लेकर लेख लिखे। ऐसे विषयों से सम्बन्धित संगोष्ठियों में चर्चा के समय भी सांस्कृतिक बिन्दुओं पर मेरा अभिगम (जो अंग्रेजी के उस एप्रोच शब्द का अनुवाद जो है इस आशय को सही ढंग से व्यक्त करता है) वही रहा। इस अभिगम में कोई नई या अनोखी बात नही थी प्राचीन परम्पराओं और मान्यताओं को सरल शब्दों में, आज की भाषा में और उस परिप्रेक्ष्य में व्यक्त करना मात्र था जो सामान्य बुद्धिजीवी के सम्मुख उनका उजला पक्ष रख सके।

कुछ स्नेही मित्रों को यह अभिगम पसन्द आया और उन्होंने चाहा कि सांस्कृतिक विचार बिन्दुओं के सम्बन्ध में ऐसी जितनी अधिक सामग्री सम्भव हो सके जिज्ञासुओं को उपलब्ध करा देना चाहिए जिससे नई पीढी का युवक उन बिन्दुओं का सही परिप्रेक्ष्य देख सके। हो सकता है ऐसे विषयों के मेरे आकलन में कहीं-कहीं मान्यताओं और रूढ़ियों का विरोध भी हो जो कट्टर परम्परावादी विचारकों को शायद पसन्द न आये किन्तु कही भी वस्तुस्थिति के विपरीत तथ्य अपनी बात के समर्थन में प्रस्तुत करने का आग्रह नहीं है। जितना अधिक सन्तुलित हो सके उतना मैने अपने दृष्टिकोण को बनाने का प्रयत्न किया है।

ऐसी सामग्री में से कुछ का संकलन 'निर्मल प्रकाशन' ने इस पुस्तिका में किया है। इसकी विषय वस्तु में विविधता अवश्य है। कुछ निबन्ध हमारे सांस्कृतिक जन-जीवन पर छाये हुए व्यक्तित्वों और विभूतियों के बारे में हैं, कुछ सांस्कृतिक पर्वों के बारे में है, कुछ धार्मिक मान्यताओं के बारे में। उनके उद्देश्य में भी वैविध्य है, कुछ निबन्धों में केवल सामान्य जिज्ञासु के लिए परिचय मात्र है, कुछ में एक विशेष दृष्टिकोण से वस्तुनिष्ठ आकलन का प्रयत्न भी है। जो भी हो, अभिगम की निष्पक्षता और विषय वस्तु को किसी भी साम्प्रदायिक मान्यता या दृष्टिकोण के ढांचे से हटकर अपने वास्तविक रूप में देखने का प्रयत्न अवश्य रहा है। इस प्रयत्न में मैं कितना सफल हो सका हूँ तथा ऐसी सामग्री की आज के परिप्रेक्ष्य में कितनी सार्थकता है इसके निर्णायक तो कृपालु पाठक ही हो सकते है।

- कलानाथ शास्त्री

जयपुर
विजय दशमी संवत् 2041
4 अक्टूबर, 1984

1

राष्ट्र जीवन

- हमारी राष्ट्रीय चेतना
- जनतांत्रिक मूल्य
- अस्पृश्यता : एक विवेचन

हमारी राष्ट्रीय चेतना

स्वदेश अथवा मातृभूमि के लिए भक्ति एक ऐसी भावना है जो उन देशों के निवासियों मे ही पाई जाती है जो अपने राष्ट्र, अपने इतिहास और अपने अतीत पर गर्व रखने की परंपरा में पोषित हैं। विद्वानों का मानना है कि राष्ट्रीयता का जज़्बा कुछ विशिष्ट कारणों से पैदा होता है। जिस देश मे भौगोलिक और राजनैतिक एक-बद्धता हो और जिस देश के निवासियों मे यह अहसास हो कि उनके देश की एक सामान्य संस्कृति है, एक इतिहास है जो सबने समान रूप से विरासत में पाया है, उस देश के लोगो में ही राष्ट्र-भक्ति की तीव्र भावना पाई जा सकती है। भौगोलिक दृष्टि से बिखरे हुए ऐसे देशों मे जिनका कोई इतिहास नही है, राष्ट्र-भक्ति की भावना नही हो सकती।

इस लिहाज से भारतवर्ष देश-भक्ति की भावना का सर्वाधिक धनी देश रहा है, यह कहना अत्युक्ति न होगा। प्रागैतिहासिक काल से ही किसी न किसी रूप में इस देश में देश-भक्ति की भावना पाई जाती है। पूर्व-वैदिक काल में इस देश का उतना विशाल और सुगठित रूप नहीं था जो आज है। उस समय जब हमारी संस्कृति शैशवकाल में थी, आर्यों ने अपने गणराज्यों की स्थापना की ही थी। उस समय अलग-अलग राज्य होने के कारण एक "समान संस्कृति" या राष्ट्रीयता की भावना उतनी बद्धमूल नहीं हो पाई थी, फिर भी ऋग्वेद के समय से ही, जो विश्व का प्राचीनतम लिखित ग्रंथ है, अपनी धरती के प्रति मोह और प्रेम की भावना के उद्भव के संकेत मिलने लगते हैं। उस समय का ऋषि अपनी धरती पर वसंत और वर्षा जैसी ऋतुओं का मनोरम नृत्य देखता था, अपने देश के स्वर्णिम उषःकाल को देखकर आत्म-विभोर होता था, सूरज की प्राणदायिनी गर्मी से धरती पर उपजते अन्न पर गर्वित होता था और इन सब भावनाओं को लेकर अपनी धरती, अपनी नदियों और अपने देश से लगाव अनुभव करता था। अथर्ववेद के समय तक आते आते इस देश में एक समान संस्कृति, समान इतिहास और समान अतीत का गौरव भी प्रकट होने लगा था, अपने नेताओं और पूर्वजों का एक ऐसा इतिहास उस समय था जिस पर सब समान रूप से गर्व कर सकते थे। राष्ट्रीयता की भावना का यह अंकुरारोपण था। अथर्ववेद का पृथ्वी-सूक्त अपनी धरती से लगाव का अनूठा उदाहरण है। देश-

वासी कहता है—मैं धरती का बेटा हूं, उस धरती का जिसका मध्य, जिसका अन्तराल, नव पुष्ट ऊर्जा से भरा हुआ है, जो पर्जन्य अर्थात् वर्षा से अन्न पैदा करके हमें जीवन देती है। इसलिये धरती मेरी मां और पर्जन्य पिता है—

यत्ते मध्यं पृथिवि यच्च नभ्यं यास्त ऊर्जस्तन्व : संबभूवु : ।
तासु नो धेह्यभि नः पवस्व माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः ।
पर्जन्यः पिता स उ नः पिपर्तु । (अथर्व० 12/1/12)

अथर्ववेद के ऋषि ने अपने इतिहास पर इन शब्दों में गर्व व्यक्त किया है—

यस्यां पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे यस्यां देवा असुरानभ्यवर्तयन् ।
गवामश्वानां वयसश्च विष्ठा भगं वर्चः पृथिवी नो दधातु । (अथर्व० 12/1/5)

जिस पृथ्वी पर हमारे पूर्वजों ने असुरों पर विजय प्राप्त की, जहां पर गायें, घोड़े और पशु-पक्षी हमारी सम्पत्ति के रूप में हमें समृद्ध बनाये हुए हैं, वह पृथ्वी हमें सदा सबल रखे।

राष्ट्रीयता की भावना तभी से बद्धमूल होने लगी। एक अन्य प्रार्थना इसी सूक्त में है। "हे भूमि हमारे देश पर जो द्वेष-दृष्टि रखते हैं, जो इस पर आक्रमण या हत्या की योजना बनाते हैं, उन्हें तुम नष्ट कर दो"—

यो नो द्वेषत् पृथिवि य. पृतन्याद्योऽभिदासान्मनसा यो वधेन ।
तं नो भूमे रन्धय पूर्वकृत्वरि । (अथर्व० 12/1/14)

अथर्ववेद के काल तक भी यह देश छोटे छोटे राज्यों में बटा हुआ ही था। एक "समान राष्ट्र" की तीव्र निष्ठा की भावना उस समय से अधिक पनपने लगी जब अशोक के समय में सारा राष्ट्र एक झण्डे के नीचे आया और राजनैतिक एकता के कारण सारा भारत एक इकाई के रूप में दृढ होने लगा। यह माना जाता है कि पुराणों का वर्तमान स्वरूप अशोक के समय से लेकर गुप्तकाल तक निर्मित हुआ। इन पुराणों में भारतवर्ष के रूप में 'एक देश' की भावना, राष्ट्र-भक्ति और गौरवमय इतिहास पर गर्व स्पष्ट रूप से उल्लिखित है। इससे पूर्व मनु-स्मृति ने भी अपने देश की ज्ञान सम्पत्ति पर गर्व करते हुए लिखा था कि इस देश के विद्वान सारी पृथ्वी के मानवों को अपने-अपने कर्तव्य और अपने-अपने इतिहास की शिक्षा दे सकते है—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मन : ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवा : ।

विष्णु पुराण और ब्रह्म पुराण जैसे पुराणों में भारत की भौगोलिक और सांस्कृतिक एकता इन शब्दों में बतलाई गई है—

उत्तरं यत्समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणम्
वर्षं तद्भारतं नाम भारती यत्र संततिः ।

गायन्ति देवाः किल गीतकानि धन्यास्तु ये भारतभूमिभागे ।
स्वर्गापवर्गास्पद-मार्गभूते भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात् ।

'हिन्द महासागर से उत्तर में और हिमालय से दक्षिण में जो देश है वह भारतवर्ष है जिसमें भरत की संतति निवास करती है । स्वर्ग के देवता भी सदा यह गाते रहते हैं कि भारत के निवासी धन्य हैं जहां उत्कृष्ट संस्कृति के कारण मनुष्य स्वर्ग और मोक्ष सब कुछ प्राप्त कर सकता है । देवता सदा यह ललक लिये रहते हैं कि हम कब भारत में जाकर जन्म लेंगे'' ।

अपनी जन्मभूमि के प्रति उद्दाम भक्ति की यह भावना तब से अब तक बनी हुई है । रावण पर विजय प्राप्त करके रामचन्द्र सारी लंका पर अपना दबदबा स्थापित कर देते हैं । लंका सोने की मानी जाती है अर्थात् भौतिक दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध देश । रामचन्द्र के सम्मुख यह प्रस्ताव रखा गया कि वे इस समृद्ध देश पर शासन करें किन्तु रामचन्द्र ने साफ कहा ''लक्ष्मण, चाहे लंका सोने की ही हो किन्तु यहां राज करना मुझे पसन्द नहीं । मुझे लौटना ही होगा । जननी और जन्मभूमि स्वर्ग से भी बढ़कर होती हैं ।'' इस श्लोक का दूसरा हिस्सा बहुत प्रसिद्ध है—

अपि स्वर्णमयी लंका न मे लक्ष्मण रोचते ।
जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी ।

इन सब उदाहरणों से स्पष्ट है कि अपने देश पर गौरव और राष्ट्र-भक्ति का इतिहास इस देश मे बहुत पुराना है । देश-भक्ति की यह भावना परवर्ती काल में भी उत्तरोत्तर वर्धमान रूप से पाई जाती है । शंकराचार्य जैसे लोक-नायकों ने समूचे देश मे एक सुगठित इकाई के रूप मे सांस्कृतिक एकता स्थापित करने के लिए कोने-कोने पर मठ बनायें और चारों कोनो मे चार धाम धार्मिक दृष्टि से महत्वपूर्ण बतलाये । उनकी तीर्थ यात्रा को पावनता प्रदान की गई जिससे देशवासियों में अपने देश के प्रति भक्ति पनपे और एकता सुदृढ़ हो ।

अपने देश के प्रति गौरव की इस भावना को धर्म के आंचल से ढककर जन-जीवन में अनजाने ही घुलामिला देने की घटना भी विश्व-संस्कृति मे अभूतपूर्व है । हमारे प्रत्येक धार्मिक कार्य के पहले जो संकल्प बोला जाता है उसमें इस देश और काल का पूरा विवरण होता है । जम्बू द्वीप के मध्य भारत और उसमें आर्यावर्त्त का उल्लेख कर हम प्रत्येक शुभ कार्य के प्रारम्भ में उस गौरव का स्मरण करते हैं । देश-भक्ति की यह भावना इतनी प्रबल है कि विद्वान लोग यजमान को आशीर्वाद देते समय तथा शुभ कार्य के अन्त मे जो मन्त्र बोलते है उनमें उस व्यक्ति की शुभ-कामना तो थोड़ी सी होती ही है, अधिकांश समूचे राष्ट्र की शुभ-भावना होती है । यह शुभ-कामना है ''इस राष्ट्र के प्रबुद्धजन विद्वान् और तेजस्वी हों, योद्धा रणबांकुरे और महारथी हों, गायें दुधारू हों, बैल मजबूत, घोड़े तेज, स्त्रियां सुन्दर, प्रशासक

विजयी और युवक सभ्य हों। जब-जब हम चाहें धरती पर मेह बरसे, फसलें भरपू
हों और सारे देश में सुख-चैन रहे"। यजुर्वेद का स्वस्तिवाचन का यह मंत्र मंगल
कामना के रूप में सारे देश में बोला जाता है—

आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामा राष्ट्रे राजन्य शूर
इषव्योतिव्याधी महारथो जायताम्
दोग्ध्री धेनुर्वोढाऽनड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू
रथेष्ठाः सभेयो युवाऽस्य यजमानस्य वीरो जायतां
निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः
पच्यन्तां योगक्षेमो न कल्पताम्। (यजुर्वेद 22/22)

—o—

गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तोऽरण्यं ते पृथिवि स्योनमस्तु।
बभ्रुं कृष्णां रोहिणीं विश्वरूपां ध्रुवां भूमिं पृथिवीमिन्द्रगुप्ताम्।
अजीतोऽहतोऽक्षतोऽध्यष्ठां पृथिवीमहम्॥ (अथर्व० 12/1/11

हे पृथिवी! तुम्हारे गगनचुम्बी और हिममण्डित पर्वत, तुम्हारे जंगल, हमा
लिये सुखकर हो। भूरी, काली, लाल, विभिन्न रंगों वाली विशाल, अविचल, इ
द्वारा रक्षित मातृभूमि पर हम अपराजित, अक्षत और चिरंजीवी होकर प्रतिष्ठित हो

जनतांत्रिक मूल्य

विदेशी दासता की लगभग एक सहस्राब्दी के बाद जब हमने स्वतंत्रता प्राप्त कर स्व-शासन के उजाले में आंख खोली थी तो आवश्यकता अनुभव हुई थी अपनी परम्पराओं पर आधारित ऐसी शासन व्यवस्था की जिसके अनुसार भारत की जनता अपना शासन स्वय करे। जनतंत्र की यह अवधारणा उस समय हमारे लिये नई थी क्योंकि मुगल शासन काल मे तथा ब्रिटिश शासन काल में हमारा शासन उस व्यवस्था से चलता था जिसे शाहंशाहे–हिन्दोस्तां या ब्रिटिश क्राउन निर्धारित कर देता था। जनता का स्व-शासन मानो एक नया तजुर्बा था भारत के लिये उस समय। वैसे ब्रिटिश शासन व्यवस्था अपने आपको विश्व की प्राचीनतम जनतन्त्रात्मक शासन व्यवस्थाओं में से एक मानती है। बहुत हद तक यह सही भी है क्योंकि वहां संसदीय प्रणाली सैकड़ों वर्षों से चल रही है और वहां की संसदीय जनतान्त्रिक परम्पराएं विश्व के देशों के लिये अनुकरणीय हैं, चाहे उन्होने केवल परम्परा के आदरार्थ वहां 'क्राउन' को भी सर्वोच्च आसन पर आसीन कर रखा है। इस प्रकार इंगलैण्ड 'राजतंत्र' होने के बावजूद जनतंत्र है क्योंकि वहा सदा से सम्राट् या सम्राज्ञी का आसन रहा है, पर शासन चलाती है संसद्। यह उक्ति भी प्रसिद्ध है कि ब्रितानी संसद् यदि यह पारित कर दे कि सम्राट् का सिर धड़ से अलग कर दिया जाए तो पालना उसी की होगी पर इस प्रकार होगी कि उस प्रस्ताव पर पहले वही सम्राट् हस्ताक्षर करेगा फिर उसके 'आदेश से' उसका सिर धड़ से अलग कर दिया जायेगा।

जनतंत्र के अन्य प्रकार बहुत प्राचीन युग से यूनान मे भी क्रियान्वित हुए थे। वहां की 'सिटी स्टेट्स' अर्थात् नगर राज्य नागरिक स्व-शासन के आदर्श माने जाते हैं। यूनानी अपने आपको प्राचीनतम जनतांत्रिक पद्धति के आविष्कर्ता कहते थे। इन सब परम्पराओ के अध्ययन के फलस्वरूप कभी-कभी प्रबुद्ध विचारक भी यह कहते पाये जाते हैं कि जनतांत्रिक परम्पराएं भारत मे आयातित हैं, अन्यथा यहां पहले से राजतंत्र या धर्मतंत्र चलता रहा है। यह नितान्त भ्रान्त धारणा है। प्राचीन भारतीय साहित्य के अनुशीलन से यह उजागर हो जाता है। अनेक शोध-विद्वान् अब यह प्रमाणित भी कर चुके है और पाश्चात्य विचारक भी मानते हैं कि

वेदकालीन समाज में जनतांत्रिक मूल्य जीवन की एक पद्धति के रूप में प्रतिष्ठित थे किन्तु बाद में भारत में राजतंत्र दृढ होता गया। यह सुविदित है कि जनतंत्र एक शासन पद्धति ही नहीं है बल्कि जीवन के प्रति एक दृष्टिकोण है, एक मूल्य है जो इस सिद्धान्त पर आधारित है कि समाज का कोई भी कार्य किसी एक व्यक्ति या व्यक्ति की निरंकुश इच्छा या निर्देश द्वारा प्रेरित न होकर व्यापकतर जनसमूह के हित के दृष्टिकोण से प्रेरित हो। किसी देश में चाहे राजा का पद विद्यमान हो किन्तु यदि शासन पद्धति के मूल्य जनतांत्रिक हैं तो वस्तुतः वह देश जनतांत्रिक है जैसा कि इंगलिस्तान का प्रत्यक्ष उदाहरण है।

वेदकालीन शासन पद्धति में भी जनतांत्रिक मूल्य अन्तर्निहित मिलते हैं। इतिहासकारों का मानना है कि जो जाति किसी अन्य देश पर आक्रमण और विजय द्वारा शासन स्थापित करती है वह 'राजा' का पद अवश्य स्थापित करती है। इसी सिद्धान्त के अनुसार यह माना जाता है कि आर्यों ने भारत के भू-भाग में बसी आदिम जातियों पर विजय प्राप्त कर राजा का पद स्थापित किया था। वेद में राजा का उल्लेख अनेक बार आता है। इन्द्र को राज्य की शक्ति का और वरुण को राजदण्ड का प्रतीक भी माना जाता है किन्तु उस समय की शासन पद्धति में राजतंत्र की निरकुशता नहीं थी। राजतत्र का उग्र आधार-राजा के ज्येष्ठ पुत्र का शासन पर जन्मजात अधिकार होना—उस समय कट्टर नहीं था। लगता है यह परम्परा बहुत बाद में पनपी। वेदकालीन इतिहास के प्रसिद्ध पात्र देवापि को राजा नहीं बनाया गया, उसके छोटे भाई शन्तनु को राजा चुना गया। योग्यता के आधार पर राजा के चुनाव की ऐसी अवधारणा के सूत्र वेदों की अनेक ऋचाओं मे पाये जाते हैं। अथर्ववेद की ऋचा 'त्वा विशो वृणतां राज्याय' (3/4/2) स्पष्ट करती है कि राजा को विशः याने प्रजाएं चुनती थी। यह चुनाव आज की-सी मतदान प्रणाली से ही होता हो यह आवश्यक नहीं। उस समय सामान्य जन के वयस्क बहुमत द्वारा चुनाव की ऐसी प्रथा नहीं थी। किन्तु राजा का निरंकुश शासन नहीं था यह ऐसे उदाहरणों से स्पष्ट होता है कि वेन जैसे राजा को जो प्रजा पर अत्याचार करता रहता था—ऋषियों के एक बहुत बड़े समूह ने राजधानी मे जाकर सबके सामने अपमानित और तिरस्कृत कर सिंहासन से उतार दिया। ऋषियों या विद्वानों का प्रबुद्ध बहुमत उस समय सारे देश के सर्वोच्च सम्मान का अधिकारी होता था। उसके सामने वेन के निरंकुश राजदण्ड की भी प्रतिरोध की हिम्मत नहीं पड़ी। इसका तात्पर्य है कि उस समय बुद्धिजीवियों का बहुमत ही सबसे बड़ी शक्ति थी। नहुष द्वारा ऋषियों तथा प्रबुद्धजनों का तिरस्कार किया जाता था। इसी की प्रतिक्रिया में प्रचण्ड प्रबुद्ध बहुमत से उसे पदच्युत कर दिया गया। ये राजा वेदकालीन थे। पुराण काल मे

ऐसे उपाख्यानों को अधिक चटकीला रंग देकर इस प्रकार वर्णित किया गया कि नहुष अपनी पालकी ऋषियों से उठवाता था, ऋषियों ने उसे शाप दे दिया, वह सर्प बन गया आदि। इसी प्रकार सुदास, सुमुख आदि राजाओं के पदच्युत किये जाने के तथा पृथु, कुबेर, विश्वामित्र आदि को योग्यता के कारण राजपद पर अभिषिक्त किये जाने के उदाहरण इसी बात के प्रमाण है कि राजपद जन्मजात नहीं था।

ऐतरेय ब्राह्मण की उक्ति 'राष्ट्राणि वै विश:' (8/26) (जनता ही राष्ट्र है) प्रसिद्ध है। 'व्यचिष्ठे बहुपाय्ये यतेमहि स्वराज्ये' (ऋग्वेद 5/66/6) ऋचा में "बहुपाय्य (अधिकाधिक नागरिकों के हितानुकूल) स्वराज्य'' शब्द मिलता है। अथर्ववेद मेंप्रशासन की अवधारणा और 'सभा' व 'समिति' के उदगम को स्पष्ट करते हुए बतलाया गया है कि अराजकता से व्यवस्था की ओर समाज की यात्रा में सभा और समिति दो सोपान हैं। ये सभा और समिति क्या थी ? वस्तुतः राजा का पद होने के बावजूद वह निरंकुश न हो जाए—उस पर प्रबुद्धजनों का अंकुश रहे इस हेतु ये दो सदन होते थे–सभा प्रबुद्धजनो की और समिति सामान्यजनों की। ये दोनों राजा को परामर्श देती थी। दूसरे शब्दों में राजा पर लोकतंत्र के अंकुश का ये प्रतीक थी। कुछ विद्वान् तो इन्हें संसद् के दोनों सदनों के पूर्वरूप मानते हैं। राजा के राज्याभिषेक के जो मंत्र हैं उनमें से उसे एक ही आशीर्वाद दिया जाता है 'तुम जनसभा में अपनी भूमिका सफलता से निभाओ' 'और समिति में स्थायी रह सको'–'ध्रुवाय ते समिति: कल्पतामिह'। प्रजाओं का समर्थन और धर्म (जो उस समय कानून या नियम का वाचक था) से शासन चलाना, ये दो राजा के गुण माने जाते थे। कालिदास ने भी राजा की परिभाषा की है—'राजा प्रकृति–रंजनात्' (प्रजारंजन ही राजा का लक्षण है)।

'बहुमत' की अवधारणा भी सभा की प्रक्रिया बताते हुए स्पष्ट की गई है। सायणाचार्य के शब्द हैं कि सभा को नरिष्टा इसीलिए कहा जाता है कि सब मिल कर यदि एक बात पर सहमत हो जाएं तो प्रशासन उसके विपरीत नहीं जा सकता। प्रशासक अधिपति नहीं होता, बल्कि समान सहयोगियों में प्रथम होता है—'फर्स्ट अमंग ईक्वल्स'—यह पाश्चात्य प्रबुद्ध सिद्धान्त बहुत उद्धृत किया जाता है। ठीक यही बात इन्हीं शब्दों में तैत्तिरीय ब्राह्मण में कही गई है, यह क्या कम आश्चर्यजनक है ? 'अग्रं समानानां पर्येति। तिष्ठन्तेऽस्मै ज्यैष्ठ्याय।' (1/3/22) वेदकाल में यद्यपि न्याय का सर्वोच्च प्रशासक भी राजा को बताया गया है किन्तु वह राजधानी में अपने दरबारमें ही न्याय देता था। अन्य स्थानों पर उसके द्वारा नियुक्त अधिकारी न्याय करते थे जिन्हें 'रत्नी' नाम दिया गया है। इसके अतिरिक्त गांवों में प्रशासन तथा न्याय के अधिकारी भी होते थे जिन्हें 'मध्यमशी' कहा गया है। शायद ये न्याय पचायत

के सरपंच जैसे ग्रामाधिकारी होते थे जो छोटे-छोटे वादों के निर्णय राजा की ओर से देते थे।

ग्रामों में अपने मामले निपटाने तथा सामूहिक निर्णय लेने हेतु समय-समय पर सभाएं होती थीं इनका उल्लेख अथर्ववेद में मिलता है। लगता है धीरे-धीरे पुरोहितों और धर्म-गुरुओं का वर्चस्व बढ़ने के साथ उनका प्रभुत्व बढ़ा और मध्यकाल में आते-आते राजतंत्र कट्टर होता गया। फिर भी जनतांत्रिक मूल्य नष्ट नहीं हुए, किसी न किसी रूप में जीवित रहे। अधिकांश देशों में राजा को भूमि का लगान देने की प्रथा इस अवधारणा पर आधारित थी कि जन्मना सारी भूमि राजा की है, यदि कोई उसे जोतता है तो उसका शुल्क राजा को अदा करना होगा। भारत में भी लगान की प्रथा थी पर प्राचीनकाल में उसका दर्शन यह था कि डाकुओं और शत्रुओं के आक्रमणों से सुरक्षा राजा का दायित्व है। इस सुरक्षा के बदले कृषक उसे लगान देते हैं। कालिदास कहते हैं–'षष्ठांशमुर्व्या इव रक्षितायाः'। उस समय लगान के रूप में छठा हिस्सा लिया जाता था। बाद में चौथा और तीसरा तक हिस्सा लिया जाने लगा था। मध्यकाल में तो राजत्व जन्मजात होने की प्रथा भी चली और सामन्तवाद बद्धमूल होता गया।

इसके बावजूद उस समय अनेक गणतंत्र इस देश के अनेक भागों में कार्यरत रहे। बौद्ध साहित्य में अनेक गणतंत्रों का उल्लेख है जिनमें यद्यपि क्षत्रिय गणों का शासन था किन्तु शासन पद्धति बहुमत या बहुसंख्यक वर्ग के सामूहिक निर्णय पर आधारित थी। हिमालय की तराई में ऐसे दस गणराज्यों का उल्लेख मिलता है जिनमें शाक्य, भग्ग, बुलि, कालाम, मल्ल, मौर्य, विदेह, लिच्छवि आदि प्रमुख हैं। इनमें प्रशासन एक विधान सभा द्वारा होता था। विचार-विमर्श के लिए ये लोग एक बड़े सभागृह में एकत्र होते थे जिसे संथागार (सस्थागार) कहा गया है। मत-विभाजन आवश्यक होने पर शलाकाओं से मतगणना की जाती थी। किसी प्रस्ताव के पक्ष में आधी से अधिक शलाकाएं आ जाने पर वह पारित किया जाता था। शलाका संग्रह करने और गिनने वाले को शलाका-ग्राहक या गणपूरक कहा जाता था। गणराज्यों के संघ भी होते थे जिनका राष्ट्रपति निर्वाचित होता था, जन्मजात नहीं। सभाओं की क्रियाविधि, गठन, निर्णय लेने की पद्धति सामूहिक नेतृत्व या बहुमत के सिद्धान्त पर आधारित थी। इसी पद्धति को बौद्धसंघों ने भी अपने धर्म-संघों के निर्णय लेने में तथा व्यवस्था चलाने में अपनाया था। मत या वोट को 'छन्द' कहा जाता था।

प्राचीन साहित्य में बुद्धकाल से लेकर गुप्तकाल तक विभिन्न प्रदेशों में ऐसे अनेक गणराज्यों का उल्लेख मिलता है। पाणिनीय व्याकरण में क्षुद्रक और मालव

आदि गणराज्यों का उल्लेख है । आज तक जो विक्रम संवत् चल रहा है वह मालव गणराज्य द्वारा प्रारम्भ किया माना जाता है । कौटिल्य के अर्थशास्त्र मे भी कुरु, पांचाल, काम्बोज, सुराष्ट्र आदि गणराज्यों का उल्लेख है । यौधेय, आर्जुनायन, अन्धक, वृष्णि, कुरु आदि गणराज्यो का उल्लेख भी प्राचीन अभिलेखों में बहुत मिलता है । ये सब सामूहिक नेतृत्व के प्रतीक थे । बहुमत का सिद्धान्त और मतदान की तत्कालीन प्रणालियां किस प्रकार की थी, इसका विस्तृत विवरण नही मिलता ।

मनुस्मृति में भी सभा में सदस्यो द्वारा मतदान करने का संकेत मिलता है । दाहिना हाथ उठाकर अपना अभिमत प्रकट करने की पद्धति ('हस्तमुद्यम्य दक्षिणम्-अष्टम अध्याय) वहां संकेतित है । धर्मशास्त्रो में न्याय की पद्धति, गवाही लेने का विधान, कराधान के सिद्धान्त आदि विस्तार से वर्णित मिलते हैं और राजा का कर्तव्य उनके अनुसार शासन चलाना बताया गया है । उनके विपरीत जाने पर उसे पदच्युत किया जा सकता था । लगता है यह लिखित धर्म-विधान ज्यों ज्यों कट्टर होता गया, पुरोहितों का शिकंजा कसता गया, वही कट्टरता राजतंत्र में प्रतिफलित हुई और मध्यकाल मे, विशेषकर विदेशी शासन काल मे, सामन्तवाद ने जड़ें जमानी शुरू कर दीं। इसका जो इतिहास रहा वह अधिक उज्ज्वल और उत्साहजनक नहीं था। उसे देखकर भारत के बारे मे अनेक भ्रान्त धारणाएं बन जाना स्वाभाविक ही था ।

अस्पृश्यता : एक विवेचन

गत दिनों भारतीय धर्म में छुआछूत विहित है या नहीं इस प्रश्न को लेकर पर्याप्त विचार-मन्थन हुआ है किन्तु ऐसा लगता है कि तह में पैठे बिना कुछ स्मृतियों के वचनमात्र को लेकर कुछ घोषणाएं की जाती रही हैं, प्राचीन भारतीय धार्मिक व्यवस्थाओं के मूल तक नहीं पहुँचा गया। सबसे पहली बात तो यह है कि अब तक इस बात को भी लोग स्पष्ट नहीं समझ पाये हैं कि अस्पृश्यता है क्या ?

शायद ही विश्व मे कोई ऐसा वर्ग या देश हो जहां प्रत्येक व्यक्ति या पदार्थ को किसी के भी द्वारा कभी भी छुआ जा सकता है। कीटाणुयुक्त द्रव्य, विकृत वस्तुएं सभी जगह अस्पृश्य ही मानी जाती हैं। यदि अस्पृश्य कुछ भी न मानें तो भी तेजाब, बिजली का करेंट, बिच्छू, जहरीले कीड़े आदि बहुत सी वस्तुओं के साथ यह सिद्धान्त निभाना असंभव सा हो जाता है। आज के परिष्कृत युग में विसंक्रामक औषधियों के प्रचार के बाद भी कोढ जैसे संक्रामक रोगों के रोगी अस्पृश्य बतलाये जाते हैं—कुछ वस्तुएं न छूने को कहा जाता है। क्या यह भी छुआछूत है ? इसे छुआछूत या अस्पृश्यता नाम देने को हम इसलिये तैयार नहीं होते कि इनके पीछे वैज्ञानिक व तार्किक कारण है, वर्गभेद या घृणा नहीं। छुआछूत वह कुरीति है जिसके कारण कोई वर्ग-विशेष या जाति-विशेष सामाजिक भेदभाव की दृष्टि से अस्पृश्य करार दिया जाय। उदाहरणार्थ, यदि किसी देश मे काले-गोरे का सामाजिक भेदभाव या रंगभेद है और एक वर्ग दूसरे वर्ग का स्पर्श करना भी घृणित समझता है तो वह छुआछूत के नाम से पुकारा जा सकता है।

वैदिक युग : अग्रगामी समाज-व्यवस्था

जहां तक प्राचीन भारतीय समाज-व्यवस्था का प्रश्न है वेदकाल से लेकर स्मृतिकाल तक किसी वर्ग या जाति को छूना बुरा माना जाता हो ऐसा उल्लेख कहीं नहीं है। यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि प्राचीन भारतीय सभ्यता नितांत तर्क-संगत बुद्धिवाद पर आधारित थी, विशेषकर वैदिक सभ्यता। वह उन्नत भौतिक समृद्धि तथा व्यावहारिक आदर्शों का एक जीवन्त उदाहरण थी। वेदकाल मे आर्यों

ग्रौर ग्रनार्यों (जिन्हें दास या दस्यु भी कहा जाता था) का ग्रार्थिक व राजनैतिक दृष्टियों से वर्ग-संघर्ष ग्रवश्य चलता था जो प्रत्येक उन्नत समाज में ग्रार्थिक या सामाजिक वरिष्ठता हेतु स्पर्धा की तरह चला करता है किन्तु किसी वर्ग को ग्रस्पृश्य मानने जैसी स्थिति कभी पैदा नहीं हुई। इसके विपरीत पौंड्, पुलिन्द, शुष्ण ग्रादि ग्रार्येतर जातियों से ग्रार्यों के विवाह-सम्बन्धों का पर्याप्त उल्लेख मिलता है। जब जब भौतिक सभ्यता चरम उत्कर्ष पर रही है – ग्रन्तर्जातीय विवाहों को सामाजिक स्वीकृति मिलती रही है। महाभारत काल में ऐसे विवाह खूब प्रचलित थे। स्वयं कृष्ण द्वैपायन व्यास ग्रनार्य कन्या सत्यवती के पुत्र थे—किन्तु उनका कितना सम्मान था यह सुविदित है। वेदकाल में तो कवष ऐलूष जैसे ग्रनार्य ऋषियों ने पर्जन्य विद्या जैसी विद्याएं प्राप्त कर ऋषि पद प्राप्त कर लिया था। ग्रार्य विद्वानों ने इसका पहले तो विरोध किया किन्तु बौद्धिक ईमानदारी तब तक चलती थी ग्रतः उन्हें ऋषिपद मिला ही। शूद्र गृहपति हो जाने पर यज्ञादि कर सकता था। शबर, निषाद ग्रादि शूद्र जातियों के साथ रामचन्द्र जैसे उच्च सवर्णों द्वारा खान-पान करने का उल्लेख रामायण में मिलता ही है।

इससे यह स्पष्ट है कि चाहे सामाजिक या राजनैतिक वरिष्ठता के लिये ग्रार्यों ग्रौर ग्रनार्यों में स्पर्धा रही हो, उच्च वर्गों द्वारा ग्रन्य वर्गों को ग्रार्थिक या नैतिक दृष्टि से वह स्थान नहीं दिया जाता हो जो मानवीय दृष्टि से देय है, शबूक जैसे शूद्र के तपस्या करके ऋषि बनने का दम भरने पर उसका कानून या कूटनीति की दृष्टि से वध करने तक की नौबत रामराज्य में भी ग्रा जाती हो पर प्राचीन सभ्यता में किसी वर्ग विशेष को ग्रस्पृश्य मानने की स्थिति नहीं पाई जाती।

स्वास्थ्य विज्ञान ग्रौर कीटाणुवाद का पूर्वाभास :

भारत में ग्रथर्ववेद के समय से ही ग्रायुर्वेद विज्ञान का विकास प्रारंभ हुग्रा। बाद में वंश, गोत्र ग्रौर रक्त की शुद्धता के सिद्धान्त पर ग्रधिक जोर दिया जाने लगा। इसी दृष्टि से ग्रमेध्य, दूषित ग्रौर ग्रस्वास्थ्यकर वस्तुग्रों के स्पर्श से बचने के नियम बनने लगे। धर्मसूत्रों के समय शव, ग्रस्थियां, मलमूत्र ग्रादि के स्पर्श से बचना उचित बतलाया गया। धीरे धीरे इन्हें धार्मिक नियमों का रूप दे दिया गया ग्रौर जिस प्रकार तार्किक पृष्ठ भूमि पर ग्राधारित दर्शनों ग्रौर सिद्धान्तों के साथ हुग्रा करता है, बाद में उनका बौद्धिक पक्ष न समझने वाले लकीर के फकीरों ने उसे 'शब्द प्रमाण' मानकर कट्टर ग्रौर विकृत रूप प्रदान कर दिया हो तो उसमें ग्राश्चर्य नहीं है किन्तु प्रत्येक प्राचीन धर्म-सूत्र ग्रौर भाष्य में यह स्पष्ट किया गया है कि जिन दूषित वस्तुग्रों का स्पर्श स्वास्थ्य के लिये ग्रहितकर है उनके स्पर्श के

बाद स्नान करना लाभदायक है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि अस्पृश्यता की व्यवस्था में उनका दृष्टिकोण किसी वर्ग-विशेष के प्रति घृणा बिलकुल नहीं थी अपितु विशुद्ध वैज्ञानिक आधारों पर स्पर्श को हानिकारक बताने का था जिसके ज्वलंत प्रमाण हैं धर्म शास्त्रों का "द्रव्य शुद्धि" नामक प्रकरण जिसमें यह विवेचन किया गया है कि गन्ध या मल से युक्त द्रव्यों को व्यवहार्य बनाने के लिये उनकी शुद्धि कैसे की जाय। इस संबंध में 'अशुद्धि' का जो वैज्ञानिक विवेचन किया गया है उसे पढ़ कर यह आश्चर्य होना स्वाभाविक है कि ये शास्त्रकार अनजाने ही कीटाणु सिद्धान्त के कितने निकट पहुंच गये थे। इन विवेचनों में जहां अशुद्धि के वाहक गंध और मल के नाश के उपाय बतलाये गये हैं—"बैक्टीरिया" या कीटाणु जैसे शब्द तो प्रयुक्त नहीं है, बाकी सारा विमर्श कीटाणु सिद्धान्त का पूर्वज सा लगता है।

धर्म शास्त्रों में :

शव, कुष्ठ रोगी, रजस्वला, प्रसूता (जो सभी वर्गों और जातियों में होते हैं) इसी वैज्ञानिक आधार पर 'अस्पृश्य' कहे गये। जिस प्रकार शव को अस्पृश्य माना गया और उसे जलाने का नियम बना, उसी आधार पर श्मशान में शवदाह करने वाले व्यक्ति को (जिसे चाडाल कहा जाता था और जो कार्य राजा हरिश्चन्द्र ने भी किया था) छू कर नहाना कुछ धर्म शास्त्रों में विहित किया गया होगा। यह उल्लेखनीय है कि चाण्डाल शब्द प्राचीन काल में श्मशान वासी शवदाहक या वधिक (जो मृत्यु दंड पाने वालों को मारने का काम करता था) के लिये ही प्रयुक्त हुआ है, किसी वर्ग या जाति के लिये नहीं (मल को ढोने की समस्या वैसे भी उस समय नहीं थी)। सिवा चांडाल के किसी अन्य पेशा करने वाले को अस्पृश्य मानने का कहीं भी उल्लेख नहीं है। चाडाल का उल्लेख भी प्राचीन प्रामाणिक स्मृति 'याज्ञवल्क्य स्मृति' में नहीं मिलता, केवल परवर्ती ग्रंथों में ही है।

याज्ञवल्क्य केवल यह कहते हैं—

"उदक्याऽशुचिभिः स्नायात् संस्पृष्टस्तैरुपस्पृशेत्"

"रजस्वला स्त्री तथा अन्य दूषित वस्तुओं का संसर्ग होने पर स्नान करें।"

गौतम धर्मसूत्र का वचन—

"पतितचांडाल-सूतिकोदक्याशव-स्पृष्टि-
तत्स्पृष्ट्युपस्पर्शने सचैलोदकोपस्पर्शनात् शुध्येत्।"

तथा मनुस्मृति का वचन—

दिवाकीर्तिमुदक्यां च पतितं सूतिकां तथा।
शवं तत्स्पृष्टिनं चैव स्पृष्ट्वा स्नानेन शुद्ध्यति।

यह स्पष्ट कर देते हैं कि जिनका स्पर्श करके स्नान करना विहित है उन्हें

किसी वर्गगत भेदभाव के कारण अस्पृश्य नहीं माना गया बल्कि वैज्ञानिक कारणों से वैसा विधान किया गया। ब्राह्मण यदि संक्रामक रोग से पीड़ित हो, माता, बहिन या पत्नी यदि रजस्वला या प्रसूता हो, कुछ निश्चित काल के लिये, निर्धारित कारणों से, अस्पृश्य कहे जा सकते थे। चूंकि वर्ण और जाति की व्यवस्था गुण और धर्म के आधार पर थी, जन्म से किसी के अस्पृश्य होने का प्रश्न वैसे भी नहीं था।

बौद्धिक ह्रास बनाम रूढ़िवाद :

इस तर्क-संगत और वस्तुनिष्ठ सिद्धान्त का उद्देश्य मध्यकालीन ह्रास-युग में नहीं समझा गया हो और कट्टरपंथियों ने किसी वर्ग भर को अस्पृश्य करार दे दिया हो यह संभव है किन्तु इसमें हिन्दू धर्मशास्त्र या आचार्य दोषी नहीं है। विदेशियों के शासन काल में रक्त की पवित्रता की दुहाई देकर जाति प्रथा और उनके भेद उप-भेदों को किस प्रकार कट्टर बना दिया गया था, अस्पृश्यता का सिद्धान्त बिजली के करेंट के सिद्धान्त की तरह माना जाने लगा था जिसके अनुसार यदि एक व्यक्ति अपवित्र हो जाये तो उसे छूने वाले सभी व्यक्ति अपवित्र होते चले जा सकते थे, कुछ कपड़े अपवित्रता के सुवाहक माने जाने लगे थे जैसे सूती, और कुछ इन्सूलेटर की तरह पवित्र बने रहे जैसे रेशमी और ऊनी, यह सब बौद्धिक ह्रास और मध्यकालीन रूढ़िवाद का करिश्मा था।

बीच में एक और प्रथा चल पड़ी थी जो आज भी कहीं-कहीं चल रही है। वेदों में क्षौर के बाद गरम पानी से शैम्पू और स्नान करने का वर्णन मिलता है। इससे कुछ कट्टर पंथियों ने यह नियम निकाला कि नापित को छूने के बाद भी स्नान करना चाहिये। यदि कोई इस प्रकार की रूढ़ियों का मूलतः दोषी वेदों को बतलाने लगे तो इसमें वेदों का क्या दोष है?

युग युग में समाज सुधार :

इस सबसे यह स्पष्ट है कि प्राचीन भारत में जाति या वर्ग के आधार पर किसी को अस्पृश्य नहीं माना जाता था। सवर्ण या सवर्णेतर जातियों को वर्गभेद के आधार पर ऊंचा या नीचा मानने का भी कोई प्रश्न नहीं था। मध्यकालीन ह्रास-युग में जब बुद्धिवाद की अपेक्षा रूढ़िवाद पनपा तो कुछ विकृतियों का जन्म लेना स्वाभाविक था किन्तु यह उल्लेखनीय है कि भारत में जब जब इस प्रकार का बौद्धिक ह्रास हुआ है विचारकों ने उसके विरुद्ध जन मानस बनाने का आन्दोलन भी साथ-साथ शुरू किया है। जातिगत भेदभाव के चिह्न देखते हुए उसके विरुद्ध बुद्धिवादी विचारकों ने चेतावनी देना शुरू कर दिया था। गीता का

विद्या-विनय-संपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पंडिताः समदर्शिनः।

इसी प्रकार के सामाजिक सुधार की एक चेतावनी थी। महाभारत के अनुशासन पर्व का 147 वां अध्याय तो इसी बात पर लिखा गया है कि ब्राह्मण, शूद्र आदि वर्ण जन्म से नहीं बल्कि सामाजिक कार्यों से प्रतिष्ठा या अप्रतिष्ठा अर्जित करके आदर या अनादर के पात्र होते हैं। पतित ब्राह्मण शूद्र और विद्वान् शूद्र ब्राह्मण होता है। भक्ति मार्ग स्वयं इसी सिद्धान्त पर आधारित है कि जाति या विजाति एक सामाजिक इकाई न होकर भक्ति ही समाज-बंधन का सूत्र बन जाए। यह एकीकरण की प्रवृत्ति नारद भक्ति सूत्र और श्रीमद्भागवत के काल से ही परिलक्षित होती है।

न यस्य जन्म-कर्मभ्यां न वर्णाश्रम-जातिभिः।
संजातेऽस्मिन्नहंभावो देहे वै स हरेः प्रियः। (भागवत 11/11/2)

भागवत में हरिजन :

"हरि-प्रिय' होना हर मनुष्य का अधिकार है। इसी सामाजिक एकता के सिद्धान्तों को रामानुज आदि भक्ति मार्ग के आचार्यों ने कार्यरूप दिया। इसी श्लोक की भावना की अनुगूंज नरसी मेहता के 'वैष्णवजन तो तेने कहिये' में सुनी गई और गांधी जी ने 'हरिजन' नामकरण द्वारा उपेक्षित वर्ग को गौरव प्रदान किया।

स्वामी दयानन्द, विवेकानन्द, महर्षि अरविन्द, रानाडे आदि विद्वान् विचारक भी यह बात तर्कसंगत प्रमाणों के आधार पर कहते, यह तो स्वाभाविक ही था। प्राचीन बौद्धिक एवं तार्किक समाज व्यवस्था को वेदों एव ब्राह्मणों ने जिस युक्तिवाद पर आधारित किया उसे न समझ पाने के कारण जन साधारण को भक्तिमार्ग की भावनात्मक एकता की माला मे गूंथने का प्रयास अधिक सफल होगा यह आचार्यों ने उसी समय परख लिया था।

भारत की पुनर्जागृति के युग मे स्वतंत्रता के आलोक की प्रतिष्ठा और मध्यकालीन रूढ़ियों और कुरीतियों का अस्वीकार किस प्रकार संविधान की साक्षी में हुआ, यह सब तो इस पीढ़ी के इतने निकट की वस्तु है कि उस इतिहास को दुहराना आवश्यक नहीं।

—o—

2

पुरुषार्थ चिन्तन

- धर्म-परिभाषा और परिप्रेक्ष्य
- काम : एक प्रभावी पुरुषार्थ

धर्म - परिभाषा और परिप्रेक्ष्य

सदियों से सुन रहे हैं कि भारत धर्मपरायण देश है। हजारों वर्ष पूर्व भी धर्म पर विचार-मंथन और वाद-विवाद होता था, मध्य काल में भी धर्म के नाम पर लड़ाइयां लड़ी गई और इस युग में भी धर्म उतना ही विवाद का विषय है। इस पर जितना कहा जाये, सोचा जाये और लिखा जाये कम है। एक अध्येता की दृष्टि से देखा जाये तो सबसे बड़ी चुनौती स्वयं यह शब्द ही है। इस शब्द का अर्थ क्या है ? भाषा-शास्त्रियों के अनुसार भारत में वेद-काल से ले कर आज तक इसका अर्थ बदलता रहा है। आज हम इसका जो अर्थ समझते हैं वह अंग्रेजी की देन है। अंग्रेजी की इसलिये कि यह अंग्रेजी के रिलीजन शब्द के पर्याय के रूप में समझा जाता है।

वैसे वर्तमान युग की यह सौगात हिन्दी और भारतीय भाषाओं को मिली है कि उसके अनेक शब्दों का अपना अर्थ नहीं रहा है, अंग्रेजी उन्हें अर्थ दे रही हैं। एक विद्वान का तो यहां तक कहना है कि आजकल की हिन्दी के शब्दों का अर्थ कुछ नहीं है, अर्थ उनके मूल अंग्रेजी शब्दों का होता है, वे तो महज पर्याय हैं। इसमें कुछ सचाई भी है। संस्कृति का अर्थ क्या है। जो कल्चर का अर्थ है वही संस्कृति का अर्थ है। वास्तव मे अर्थ तो एक्ट, आर्डिनेन्स आदि शब्दों के हैं, अधिनियम और अध्यादेश तो उनके पर्याय हैं। यही बात आजकल धर्म के साथ हो रही है।

वेद-काल मे धर्म को समाज के कानून या निर्धारित आदेशों के रूप में परिभाषित किया गया था। "तानि धर्माणि प्रथमानि आसन्" आदि में धर्म का यही अर्थ है। जैमिनि ने भी यही कहा है "जो आदेश समाज को किसी काम के लिये प्रेरित करने को दिये गये हैं वे धर्म हैं।" इस आशय को व्यक्त करने वाले अनेक शब्द आज तक प्रचलित हैं—जैसे धर्म-पत्नी (विधिपूर्वक परिणीत पत्नी। यहां रिलीजन के कार्यों के लिये स्वीकृत पत्नी का तात्पर्य नहीं है), धर्म-कांटा। इस प्रकार तत्कालीन विधि, कानून और सामाजिक नियम धर्म कहलाते थे। जो धारण करता है वह धर्म हैं यह इसीलिये कहा गया था। पुरानी संस्कृतियों की यह परिणति स्वाभाविक है कि उनमें धार्मिक परम्पराएं धीरे-धीरे आकारिक रूप ले लेती है, धर्म फोरमल रिलीजन (रीतिबद्ध आकारिक धर्म) बन जाता है। इसी क्रम में तत्कालीन सामाजिक नियम रूढ़ि बनते गये।

वेदोत्तर कालीन धर्म में इसीलिये कर्मकाण्ड का वर्चस्व बढ़ता गया। मूल्यों की दृष्टि ओझल होती गई, दकियानूस रूप उभरता गया। इसके बावजूद उनका आंतरिक मूल्य अधिक महत्वपूर्ण है यह अहसास महर्षियों और धर्म गुरुओं को बना रहा। तभी तो हमारे बड़े-बड़े महर्षियों (मनु, याज्ञवल्क्य आदि) ने जो धर्म-शास्त्र लिखे उनमें धर्म का लक्षण बताया अहिंसा, सत्य, अस्तेय, पवित्रता, ब्रह्मचर्य। किसी-किसी ने विद्या, बुद्धि, अक्रोध आदि कुछ मूल्य और जोड़ दिये। इन्हे धर्म की परिभाषा (लक्षण) कहा गया, आधुनिक दार्शनिक भाषा मे इन्हे मूल्य भी कहा जा सकता है। इस परिभाषा में यज्ञ करना, दान करना, मन्दिर मे घण्टा बजाना, ठाकुर जी की मूर्ति की पूजा करना, इनका तो कही नाम निशान भी नही है। फिर इन्हें धर्म क्यों कहा गया? क्योंकि यह धर्म की तीसरी अर्थ-छाया थी जिसमें मानवीय मूल्यों को धर्म कहा गया। ये मूल्य विश्व के प्राय: सभी धर्मों मे समान हैं। ऊपर वर्णित अहिंसा, सत्य आदि ठीक उन्ही पांच मूल्यों को जिन्हें महावीर स्वामी ने महाव्रत कह कर अपने धर्म का आधार बनाया था, मनु ने धर्म का लक्षण माना। सत्य और अहिंसा दुनियां के सभी धर्मों के मूल हैं पर वे रिलीजन नही है। हम धर्म को रिलीजन मानते हैं जो इस शब्द की तीसरी अर्थ-छाया है जो बाद मे पनपी है। ज्यों-ज्यों धर्म आकारिक, रीतिबद्ध और नियोजित होता गया उसको रूढ़ियों मे मन्दिर, मठ, सेवा पूजा, यज्ञ, याग आदि घेरा बनाते गये। भक्ति काल मे भक्ति भी इसमे आ मिली। धर्म शब्द का भी इन्ही अर्थों में प्रयोग होने लगा। "वे अपना धन धर्म में लगाते हैं"। इसमें धर्म का अर्थ वही आकारिक धर्म या रिलीजन है। वस्तुगत दृष्टि से यह पर्याय उचित नहीं। इस दृष्टि से रिलीजन का पर्याय पंथ उचित लगता है। किन्तु "गुरु की सेवा शिष्य का धर्म है, सवेरे-सवेरे तो धर्म की बात कहो" इन सब में धर्म का अर्थ रिलीजन नही हैं, उच्चतर मानवीय मूल्य हैं। दूसरे शब्दो में एक जगह धर्म मजहब या रिलीजन का पर्याय है—दूसरी जगह ईमान का।

एक अन्य अर्थ भी धर्म का है जो न्याय आदि दर्शनो मे आता है (जैसे अग्नि का धर्म उष्णता है)। यह एक दार्शनिक संज्ञा है और इस प्रसंग में उसकी विशेष सार्थकता नहीं है। यहां धर्म की परिभाषा के साथ यदि भारत में उसका इतिहास देखें तो एक बात उभर कर आती है। धर्म की दो परिभाषाओं का द्वन्द्व इस देश में मनीषियों को सदा से चुनौती देता रहा है। वह धर्म जिसका अर्थ सत्य, अहिंसा आदि मानवीय मूल्य हैं, धर्म का सही स्वरूप है या वह आकारिक धर्म जो मन्दिर जाना और यज्ञ कराना सिखाता है? प्रत्येक युग के मनीषियो ने इस पर विचार किया है। इसी की प्रतीक एक कथा महाभारत में आती हैं जो तुलाधार की कथा के नाम से प्रसिद्ध है। बड़ी तपस्या करने के बाद महर्षि जाजलि जब यह सुनते हैं f

काशी का एक वैश्य तुलाधार धर्म का अधिकृत विद्वान माना जाता है तो उन्हें ईर्ष्या, आश्चर्य और कुंठा होती है। वे काशी जाकर उससे मिलते हैं। वह उन्हें उपदेश देता है। उस युग के लिये यह क्या कम आश्चर्य की बात थी कि एक वैश्य एक महर्षि को धर्म का उपदेश देता है और महर्षि उनका लोहा मानते हैं? तुलाधार का उपदेश ठीक इसी दिशा में है कि क्या आकारिक या ऊपरी धर्म जिसमे पूजा पाठ, मठ, मन्दिर, यज्ञ याग आदि आते हैं वही धर्म है? यदि चोरी या काले धन से मन्दिर बनवाया जाये या यज्ञ किया जाये तो वह धर्म होगा? ऐसे अनेक क्रान्तिकारी तर्कों के तानेबाने से तुलाधार मूल्यात्मक और आकारिक धर्म का भेद समझा कर महर्षि की आत्मा को झकझोर देता है। वह स्वयं के उदाहरण से बताता हैं कि उसके निकट सत्यवाणी, निष्कपट व्यवहार, कर्त्तव्यपालन, समाज की निश्छल सेवा ही धर्म है, कर्मकाण्ड रूढ़ियां, पूजा पाठ नहीं।

महाभारत के शांति पर्व के ये तीन-चार अध्याय आज के प्रसंग में और भी अधिक अर्थवत्ता रखते हैं जो मूल्यगत धर्म और आकारिक धर्म के दो छोरों को स्पष्ट करते हैं। ये बताते हैं कि प्राचीन महर्षियों ने जिस धर्म के दर्शन किये थे उसमें 'कारण' (तर्क या युक्तिसंगत होना) मुख्य आधार था। कोई धर्म अकारण नही है। यह इस उपदेश का मेरुदण्ड है जो सामाजिक शुभ और उच्चतर मूल्यों को धर्म का आधार मान कर चला है। उस समय भी यह द्वन्द्व था और मनीषियों को कचोटता था यह आज पढ़कर आश्चर्य होता है।

जब से धर्म आकारिक और रीतिबद्ध बना, अनेक रूढ़ियां पनपीं। कुछ अच्छी थीं, कुछ बाद में दकियानूसी के कारण बुरी होती चली गई। कभी-कभी तो पराकाष्ठा यहाँ तक पहुंची कि कहीं-कहीं आकारी धर्म की छत के नीचे मानवीय मूल्यों ने दम तोड़ दिया। धर्म का पहला लक्षण सत्य था किन्तु पुराणों और मिथकों द्वारा बहुधा असत्य का आसरा लेकर धर्म मे श्रद्धा पैदा करने का प्रयत्न किया गया। देवताओं और गुरुओं में ऐसी शक्तियां और चमत्कार बताये गये जिनका अस्तित्व नही था। पूजाओं और व्रतों की फलश्रुतियो मे कितना सत्य है और कितनी बातें मिथ्या हैं, इन्हें छान लें, परिणाम स्पष्ट हो जायेगा। दूसरा लक्षण, अहिंसा, वेदकाल में ही शिथिल होने लगा था। पशुबलि को "वैदिकी हिंसा, हिंसा न भवति" कह कर मुश्किल से बचा पाये थे हम लोग कि बुद्ध और महावीर ने उस पर भी प्रश्न-चिह्न लगा दिये। आज यदि मन्दिरों, धर्म स्थानों और धर्मगुरुओं के अड्डों में भी हिंसा होती है और धर्म के इस लक्षण का कत्ल होता है तो उसका बीभित्स रूप समझ में आता है। तीसरा लक्षण अस्तेय था। बिना दिये न लेना। धर्म ने दान का महत्व बेशक सिखलाया पर आजकल तीर्थों के पण्डे जो जबरदस्ती धर्म के नाम पर लूटपाट करते हैं वह क्या

है ? यदि कोई रिश्वत लेने वाला बाबू उसे चोर कहे जाने पर नाराज हो और यह कहे कि मैं तो अस्तेय का पालन करता हूं, बिना दिये नहीं लेता तो वह क्या गलत कहता है ? अपरिग्रह को धर्म का लक्षण सब ने माना था । पर आज के धर्म-गुरु तो इस तराजू पर तुलते हैं कि किस के पास कितने विमान हैं, कितनी विदेशी मुद्रा है, कितने विदेशी अनुयायी हैं । जब स्वयं तथाकथित धर्म-गुरु विमानों से विदेश यात्रा करते हैं और सोने चांदी के महलों में केसर से नहाते हैं तो अपरिग्रह कौन करे ? जब सारे मूल्य मर रहे हैं और वे भी धर्म के अहाते में, तो पवित्रता, बुद्धि, विद्या आदि भी कब तक जिन्दा बचेंगे ?

यह सब इस बात का निदर्शन है कि धर्म शब्द के आशयों में परिवर्तन होता रहा है । यह रूढ़ियों में बार बार जकड़ता रहा है किन्तु समय समय पर तुलाधार, कबीर, दादू, विवेकानन्द, गांधी भी जन्म लेते रहे हैं जो बार-बार आकारिक या रूढ़िगत धर्म से समाज की दृष्टि थोड़ी ऊपर उठा कर मूल्यगत धर्म की ओर ले जाते रहे हैं । आज भारत इन दोनों दृष्टियों में से किसी को भी छोड़ नहीं सकता । आवश्यकता दोनों के संतुलन की है । आज के सभी धर्मगुरुओं, संस्थानों, विद्वानों, विचारकों और जन नेताओं के सामने यह सबसे बड़ी चुनौती है । धर्म-निरपेक्षता के उद्देश्य को पूरा करें । धर्म से कतरायें नहीं बल्कि उसे वह सही जामा पहिना कर देशवासियों को दिखायें जो उसका असली लिबास है । अन्त में यह उल्लेख करना भी अप्रासंगिक नहीं होगा कि सेक्युलर का जो पर्याय 'धर्मनिरपेक्ष' चल रहा था वह भी धर्म को रिलीजन का पर्याय मानकर ही प्रचलित था किन्तु इसके अनौचित्य की ओर बार-बार विद्वानों ने ध्यान आकृष्ट किया । इस असंगति की ओर भारत सरकार का ध्यान भी गया ऐसा लगता है जिसके फलस्वरूप विधिमंत्रालय द्वारा हाल ही में प्रकाशित भारतीय संविधान के हिन्दी पाठ में धर्मनिरपेक्ष शब्द नहीं बल्कि 'पंथनिरपेक्ष' शब्द ही सेक्युलर के लिए प्रयुक्त किया गया है ।

—6—

काम : एक प्रभावी पुरुषार्थ

भारतीय संस्कृति मे मानव जीवन के जो प्राप्तव्य लक्ष्य या उद्देश्य बतलाये गए हैं उन्हें पुरुषार्थ का नाम दिया गया है। ये पुरुषार्थ चार हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। धर्म याने समाज के कानून का पालन, अर्थ याने भौतिक समृद्धि की प्राप्ति और काम याने व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में सुखोपभोग की एषणाओं की तृप्ति, ये जीवन के तीन लक्ष्य थे जिन्हें त्रि-वर्ग कहा जाता था। मोक्ष बाद में जुड़ गया और वह चौथा पुरुषार्थ बन गया। ऐसा क्यों हुआ ? इसका विवेचन यहाँ करना आवश्यक नही है। यहा आज तीसरे पुरुषार्थ यानी 'काम' के सम्बन्ध मे कुछ चर्चा की जाएगी। सामान्यतः आज 'काम' शब्द का वही अर्थ लिया जाता है जो अंग्रेजी मे 'सेक्स' शब्द से समझा जाता है। किन्तु चार पुरुषार्थों में जिस 'काम' शब्द का प्रयोग संस्कृत साहित्य में हुआ है वह केवल 'सेक्स' के अर्थ में नहीं है। उससे वस्तुतः उन सभी एषणाओं की तृप्ति अभिहित है जो मानव के सौंदर्यबोध और लालित्य चेतना से सम्बन्धित हैं। उदाहरणार्थ—समस्त इन्द्रियों के सुख की एषणा जैसे गीतवाद्य आदि के श्रवण का सुख, सुगन्ध सूंघने व मूर्ति आदि के दर्शन का सुख तथा अन्य सभी प्रकार के मौज-शौक की चीजें 'काम' पुरुषार्थ में सम्मिलित मानी जाती थीं। "पशवो में कामः समृद्ध्यताम्" कहकर वेद में अच्छे खाने पीने की इच्छा की तृप्ति को भी तृतीय पुरुषार्थ में शामिल किया गया है। यह सत्य है कि जिह्वा, श्रवण, नेत्र आदि इन्द्रिय विषयों के सुख के साथ ही सेक्स वाला सुख भी लालित्य की चेतना से सम्बद्ध एषणा का ही एक प्रकार है इसलिए वह भी इस पुरुषार्थ का एक भाग है। यह बात अलग है कि परवर्ती काल में उसी को इतना महत्व दे दिया गया कि काम-शास्त्र शब्द से लोग केवल यही समझने लगे कि इस शास्त्र में केवल स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों की ही बात बतलाई जाती है। हालत यहां तक हो गई कि मध्यकाल में आते-आते कामशास्त्र को कोकशास्त्र का पर्याय समझा जाने लगा।

संस्कृत साहित्य में चारों पुरुषार्थों को समान महत्व दिया गया है तथा इन चारों ध्येयों की सिद्धि के प्रति प्रयत्न करना मानव जीवन का कर्त्तव्य बतलाया

गया है। त्रिवर्ग की प्राप्ति के लिए गृहस्थ तथा मोक्ष का प्राप्ति के लिए वानप्रस्थ और संन्यासी विशेषतः यत्नशील हो यह भी अभिहित है। समूची भारतीय संस्कृति, विशेषतः संस्कृत साहित्यकारों का दृष्टिकोण अर्थ और काम के प्रति यह रहा है कि इन दोनों की प्राप्ति के जो प्रयास किये जाएं वे प्रथम पुरुषार्थ याने धर्म के अनुकूल होने चाहिए। इस प्रकार प्रथम पुरुषार्थ अन्य सभी मे व्याप्त है। एक वाक्य में यदि संस्कृत साहित्यकारों का तृतीय पुरुषार्थ के प्रति दृष्टिकोण बतलाया जाए तो गीता का एक श्लोकार्ध उद्धृत कर देना पर्याप्त होगा। कृष्ण कहते है कि तीनों पुरुषार्थों में से 'काम' पुरुषार्थ मेरा स्वरूप है। किन्तु कैसा काम? जो धर्म के विरुद्ध न हो। उनके शब्द हैं—'धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोस्मि भरतर्षभ।'

समस्त संस्कृत साहित्य में इस सूत्र के अनुसार ही 'काम' और धर्म का सुसंगत समन्वय मिलता है। प्रारम्भ से ही जीवन के स्वस्थ उपभोग में भारतीय साहित्य विश्वास करता रहा है। वैदिक काल में युवक-युवतियों के स्वच्छंद एवं स्वस्थ सहवास को किसी पाप,कुंठा या वर्जना की दृष्टि से नहीं देखा जाता था जब तक कि इस प्रकार की प्रवृत्ति के पीछे कोई कुत्सित तथा असामाजिक उद्देश्य न हो। अस्वस्थ, कुत्सित एवं असामाजिक एषणाओं को अवश्य ही नीची दृष्टि से देखा जाता था किन्तु समस्त शारीरिक सवेग पापमूलक हैं यह मूलतः भारतीय साहित्य की दृष्टि नहीं रही। संभवतः जैन धर्म के प्रभाव से बाद में एक ऐसी विचारधारा जन्मी कि शरीर अपने आप में पाप का प्रतीक है, वह आत्मा का शत्रु है, उसे कष्ट देना मानव जीवन की उदात्तता का प्रतीक है और उसे संतुष्ट करना कुछ नीची सी बात है। किन्तु साहित्यकारों, कवियों आदि ने इस विचार-धारा को कभी प्रश्रय नहीं दिया। जिस प्रकार हेवलाक एलिस जैसे आधुनिक पाश्चात्य विद्वानों ने सेक्स की भावना को कुत्सित विचारों के दकियानूस परिवेश से हटाकर वैज्ञानिक धरातल पर ला खड़ा किया है और उसे मानव को निर्माणात्मक सह वृत्ति के रूप में देखा है ठीक उसी प्रकार हजारों वर्ष पूर्व से हमारे साहित्य में जीवन के स्वस्थ उपभोग को तृतीय पुरुषार्थ के रूप में एक पुनीत लक्ष्य माना गया था। उसमें वर्जना की कालिमा नहीं थी। साहित्यकारों की यही मान्यता रही मालूम पड़ती है कि एक सहज प्रवृत्ति और अनिवार्य संवेग के रूप में लालित्य बोध और शरीर सुख की आकांक्षाओं की पूर्ति मानव जीवन का अनिवार्य अंग है। उस बिना विविध प्रकार की कुंठाएं पैदा हो सकती हैं। इसलिए इस प्रकार की इच्छाओं की पूर्ति वांछनीय मानी जाती थी। इसलिए संस्कृत के महाकवि शृं रस के चित्रण में अद्वितीय माने जाते हैं। संस्कृत के दर्शनशास्त्रों में f गम्भीरता है, संस्कृत के शृंगार साहित्य में उतना ही उन्मुक्त सौंदर्य और स्व

रस-प्रवाह है। कालिदास, भवभूति, जयदेव, गोवर्धन जैसे महाकवि शृंगार रस के सागर में गहराई तक डुबकी लगाते हैं और कभी-कभी ऐसा लगता है कि शृंगार के अविरल प्रवाह में वे दूर तक बहते चले जाते हैं किन्तु यह बात विशेषतः उल्लेखनीय है कि प्रत्येक संस्कृत कवि का शृंगार और कामेषणा धार्मिक औचित्य की वेला को नहीं लांघती।

जहां तक कामशास्त्र के सैद्धान्तिक पक्ष का सम्बन्ध है, संस्कृत में इससे सम्बन्धित विपुल साहित्य उपलब्ध है। आचार्य वात्स्यायन के कामसूत्र से लेकर अनंगरंग, नागर-सर्वस्व जैसे ग्रंथों तथा समकालीन मथुराप्रसाद दीक्षित के 'केलिकुतूहलम्' काव्य तक बीसियों कामशास्त्रीय ग्रंथ संस्कृत में उपलब्ध हैं। कामशास्त्र का सबसे प्राचीन ग्रंथ वात्स्यायन का कामसूत्र इन दिनों सुविदित हो गया है। इसमें तृतीय पुरुषार्थ की पूर्ति के उपाय विस्तार से बतलाए गए हैं। इसमें केवल दाम्पत्य सम्बन्धों का ही वर्णन नहीं है अपितु इस पुरुषार्थ के व्यापक अर्थ में आने वाले अन्य पक्षों का भी विवेचन है। समृद्ध और प्रबुद्ध नागरिक के परिष्कृत जीवन स्तर की सभी वांछनीय वस्तुओं, कलाओं और मौज-शौकों को प्राप्तव्य बतलाया गया है और उनका विवेचन किया गया है। आपको सुनकर आश्चर्य होगा कि आज से हजारों वर्ष पूर्व नागरिक जीवन की कुछ ऐसी परम्पराओं, कलाओं और व्यवहारों का वात्स्यायन ने जिक्र किया है जो अत्यन्त आधुनिक प्रवृत्ति के रूप में विख्यात हैं। घरों को सजाने, बाग-बगीचे लगाने, सौंदर्य-प्रसाधनों का प्रयोग करने, संगीत-गोष्ठियों, नृत्य प्रदर्शन आदि रंगारंग कार्यक्रम आयोजित करने का भी उसमें वर्णन है। नागरिक के लिए जो 64 कलायें वांछनीय बतलाई गई हैं उसमें मेक-अप के भी कई प्रकार हैं जिन्हें गन्धयुक्ति, भूषणयोजन आदि नाम दिये गये हैं। पाक-विद्या और केश-मर्दन-कौशल जिसमें हेयर स्टाइल भी शामिल है इन कलाओं में आते हैं और ये सब नागरिक के लिए सीखने लायक चीजें बतलाई गई हैं। यहां तक कि आधुनिक ड्रिंक पार्टियों की तरह समापानक, पिकनिक की तरह उद्यानगमन तथा प्रबुद्ध नागरिकों की पार्टियों की तरह 'गोष्ठी समवाय' समय-समय पर करते रहना चाहिए यह वात्स्यायन का कहना है। 'परस्परभवनेषु चापानकानि। घटानिबन्धनम्, गोष्ठीसमवायः'। समृद्ध नागरिक बारी-बारी से एक-दूसरे को खाने-पीने पर बुलाया करते थे और जब ऐसी पार्टियां होती थी तो वार्तालाप का कौशल दिखाना बड़ी अच्छी वस्तु मानी जाती थी।

इस प्रकार सामाजिक सुखोपभोग तथा वैयक्तिक जीवन की आनंदानुभूति दोनों ही काम पुरुषार्थ के अन्तर्गत आते हैं। बहरहाल हमारा जीवन दर्शन यह रहा है कि सहज संवेगों की तुष्टि उन्मुक्त रूप से करते हुए भी उन्हें किन्हीं सामाजिक मर्यादाओं की सीमा में रखा जाना चाहिए। ये सीमाएं अधिक कट्टर हो जाएं इसके प्रति भी साहित्यकार सजग रहता था किन्तु सबसे बड़ी और सर्वमान्य सीमा यह थी कि शृंगार भावना अनुचित या गर्हित पात्र के प्रति नहीं होनी चाहिए। इसीलिये परस्त्री के प्रति शृंगार अनुचित माना जाता था। उद्दाम प्रेम के संवेग की तृप्ति

स्वकीया नायिका, पत्नी या प्रेमिका के प्रति शृंगार भावना के रूप में उन्मुक्त और स्वच्छन्द रूप में की जा सकती थी, उसमें कोई लज्जा या कुंठा नहीं थी—इसके अतिरिक्त भी यदि आवश्यकता का अनुभव हो तो वारवनिता या नगरवधू तक जा सकती थी किन्तु परदारानुराग परम्परासंगत नहीं था। यही था धर्म का दाने सामाजिक कानून का बधन—यही था 'धर्माविरुद्ध काम'। कालिदास ने कुमारसंभव में शिव और पार्वती के उद्दाम शृंगार के वर्णन में सभी सीमाएं तोड़ दी, भवभूति ने मालती और माधव का उन्मुक्त नागरिक प्रेम-सम्बन्ध बतलाया किन्तु इन सबने स्वकीया नायिका के प्रति ही शृंगार भावना के नियम का पालन हुआ। कालिदास का यक्ष मेघ के द्वारा अपनी पत्नी को संदेश भिजवाता है किंतु 'दयिताजीविता-लंबनार्थी' 'प्रियायाः संदेश मे हर' इत्यादि कहकर उसे ही प्रेयसी और प्रेमिका के स्वरूप में देखता है। आज के लिये इन्दुमती, नल के लिये दमयन्ती, उदयन के लिये वासवदत्ता—सभी शृंगार काव्यों की नायिकाएं स्वकीया हैं। मृच्छकटिक की वसन्तसेना गणिका अवश्य है किन्तु परस्त्री नहीं। जयदेव के गीतगोविन्द की नायिका राधा विवाहिता नहीं है पर वह परदारा भी नहीं। दाम्पत्य की सीमा में रहते हुए शृंगार की समस्त भावनाओं की संतुष्टि संस्कृत साहित्य का जीवनदर्शन प्रतीत होता है। भवभूति ऐसे शृंगार को जरारहित की संज्ञा देते हैं, समय जिसका रस नहीं सुखा सकता।

> अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगतं सर्वास्ववस्थासु यद्
> विश्रामो हृदयस्य यत्र जरसा यस्मिन् अहार्यो रसः।
> कालेनावरणात्ययात्परिणते यत् प्रेमसारे स्थितं
> भद्रं तस्य सुमानुषस्य कथमप्येकं हि तत् प्राप्यते।

प्रत्येक महाकाव्य में विहार-वर्णन व शृंगार का उन्मुक्त चित्रण उपलब्ध है। अधिकांश नाटक शृंगार रस प्रधान है। संस्कृत साहित्य ने सर्वाधिक महत्व दिया है तीनों पुरुषार्थों के संतुलन को। अर्थ और काम की एषणा समान रूप से वांछनीय है और इसके साथ धर्म का समन्वय अनिवार्य है। नैषधचरित के रचयिता श्रीहर्ष ने इस संतुलन को अपने नायक नल के जीवन में इस प्रकार दिखाया है कि उसने प्रभात का समय धर्म के लिए, मध्याह्न का समय अर्थ और राजनीति के लिए और रात का समय तृतीय पुरुषार्थ के लिए, तीनों का काल विभाजन कर रखा था। स्पष्टतः उसने धर्म का बड़ा संकुचित अर्थ लिया था। जो भी हो, नैषध का नायक राजा नल प्रातः काल मन्दिर में, समूचा दिन राजसभा में और रात्रि दमयन्ती के रंगमहल में एक विलासी नायक की भांति बिताता है। संस्कृत का साहित्यकार इस सतुलन की दृष्टि को नहीं खोता। भर्तृहरि नीतिशतक और शृंगार-शतक लिखते हैं तो साथ में वैराग्यशतक भी लिखते हैं। काम को धर्म की मर्यादा में बांधकर स्वस्थ उपभोग समूचे संस्कृत साहित्य का वर्ण्य है। धर्म, सदाचार, शिष्टाचार तथा सामाजिक शालीनता की परम्परा के विरुद्ध कामेषणा गर्हित मानी जाती थी और संस्कृत साहित्य में उसका ढूंढ पाना असम्भव सा ही है।

3
सांस्कृतिक विभूतियां

राम : मर्यादा-पुरुषोत्तम

हजारों वर्षों से भारतीय भाषाओं के वाङ्मय के माध्यम से जिन पात्रों के चरित्र भारतीय समाज के मानस में गहरे पैठ गये हैं वे किसी न किसी भावना, आदर्श या प्रवृत्ति के प्रतीक से बन गये हैं। रामकथा में जिस प्रकार भरत भ्रातृ-प्रेम के प्रतीक हैं, सीता पति-भक्ति की प्रतीक हैं, उसी प्रकार मंथरा भी चुगलखोरी की प्रतीक-सी बन गई है। भरत जैसा भाई आदर्श माना जाता है तो चुगलखोर स्त्री के लिए कहा जाता है यह बड़ी मंथरा है। युधिष्ठिर सत्यवादिता के प्रतीक हैं तो रावण अहंकार का। कहने की आवश्यकता नहीं कि इन पात्रों की ये प्रतिमाएं या बिम्ब साहित्यकारों के सटीक चरित्र-चित्रण का ही परिणाम है।

इतिहास की किसी घटना में किसी पात्र की चाहे कैसी भी भूमिका रही हो साहित्यकार उसे जो रंग देता है उसी की छाप जन-मानस में पड़ती है। तभी तो दुर्योधन घमण्डी और क्रूर पात्र बन गया है और शकुनि कुटिलता और मक्कारी का प्रतीक। इन पात्रों के इन प्रतीकों का अध्ययन बहुत रुचि का विषय हो सकता है। संभवतः जिस की भारतीय जन-मानस मे सबसे अधिक आदरणीय छाप है वह है राम का पात्र। राम सामान्यतः ईश्वर के प्रतीक के रूप में जन-मानस मे व्याप्त हैं। घट-घट-वासी परमात्मा के रूप में जहां हम राम की साक्षी देते है वहीं मृत्यु के समय भी राम-नाम की सत्यता का ही स्मरण किया जाता है। किन्तु भारतीय वाङ्मय के एक पात्र के रूप में राम यदि किसी एक गुण के प्रतीक बन गये हैं तो वह है मर्यादा और आदर्श। भारतीय मूल्यों में जो सर्वोच्च मर्यादा है वह सब राम में चित्रित है। उन्हें वाल्मीकि के समय से ही मर्यादा-पुरुषोत्तम के रूप मे उभारा गया है। राम-राज्य आदर्श राज्य है, रामबाण एक अमोध उपाय है। राम एक आदर्श राजा, आदर्श पति, आदर्श पुत्र और आदर्श भाई हैं।

वाल्मीकि से लेकर आधुनिक संस्कृत-कवियों तक राम का जो चित्रण हुआ है उसमें उनके अन्य गुणों की रेखाएं कमो-बेश अलग-अलग रूप में चाहे चित्रित हुई हों किन्तु उनका यह आदर्श सबने समान रूप से उभारा है। इस आदर्श की सर्व-प्रथम स्थापना महाकवि वाल्मीकि ने की है। उन्होने राम को अपने पिता के वचन के

पालनार्थ राजपाट, स्वजन कुल और परिवार तक को त्याग देने वाला आदर्श पुत्र तो बनाता ही है, राजकीय अनुशासन और मर्यादा का पालन करने का उदाहरण सामने रखने वाला मर्यादा-पालक भी बतलाया है। जब उन्हें वनवास की आज्ञा होती है तो वे मंत्री से कहते हैं—

अहं हि वचनाद्राज्ञः पतेयमपि पावके।
भक्षयेयं विषं तीक्ष्णं पतेयमपि चार्णवे। × × ×
नियुक्तो गुरुणा पित्रा हितेन च नृपेण च।

"मैं अपने पिता की आज्ञा का पालन तो कर ही रहा हूं, वे इस देश के राजा हैं इसलिए उनके आदेश का पालन करने हेतु भी मैं जहर खाने और आग में कूदने तक के लिए तैयार हूं।"

आदर्श भाई के रूप में राम हमें लक्ष्मण की मूर्छा के समय दिखाई देते हैं। अपना सर्वस्व छोड़कर भाई का अनुगमन करने वाले लक्ष्मण के बिना वे अयोध्या लौटने की कल्पना भी नहीं कर सकते। वे निश्चय कर लेते हैं कि मैं अपना शरीर यहीं छोड़ दूंगा।

राम ने एकपत्नी-व्रत का आदर्श स्थापित कर एक समाज सुधार का कार्य किया था। उस समय बहु-विवाह प्रथा राजाओं में सुप्रचलित थी। वाल्मीकि के अनुसार दशरथ की 3 पटरानियां तथा 350 रानियां थीं। किन्तु राम ने एकपत्नी-व्रत का जो आदर्श स्थापित किया वह आज तक उद्धृत किया जाता है।

धर्म की मर्यादा का पालन रामचरित्र का एक अभिन्न अंग है। रावण के नाश के बाद उसके दाह-कर्म करने को विभीषण के सिवाय कोई नहीं बचता। दुष्ट शत्रु का दाह-संस्कार कौन करे ? विभीषण भी झिझक अनुभव करता है, किन्तु राम उन्हें समझाते हैं—

"मरणान्तानि वैराणि निर्वृत्तं नः प्रयोजनम्।
क्रियतामस्य संस्कारो ममाप्येष यथा तव॥"

मृत्यु के साथ सारे वैरविरोध समाप्त हो जाते हैं। इसका विधिपूर्वक संस्कार हमारा कर्त्तव्य है। वे विभीषण को उसके संस्कार करने का आग्रह करते हैं। शत्रु के साथ यह सलूक करना आज के युग में आश्चर्यजनक नहीं ?

इसी प्रकार आदर्श राजा के रूप में लोक-मत का सर्वोच्च आदर करने वाले और लोकापवाद के कारण सीता तक को छोड़ देने वाले राम ने राजा के आदर्शों की भी स्थापना की है। उनके दो अन्य गुण हैं—वचन की सत्यता और किसी के द्वारा किये गये उपकार को नहीं भूलना। "रामो द्विर्नाभिभाषते" उक्ति प्रसिद्ध है। राम केवल एक बार ही वचन देते हैं। उसमें रत्ती भर भी फर्क नहीं आता। हनुमान ने उनकी जो निश्छल सेवा की उसके सम्बन्ध में उनका एक वाक्य ही मन को

गहराइयों को छू लेता है। अयोध्या में अपने राज्याभिषेक के बाद हनुमान को विदा करते समय उनका गला भर जाता है, वे हनुमान को गले लगा लेते हैं, कुछ कह नहीं पाते। केवल ये शब्द उनके मुख से निकलते हैं "बन्धु, तुम्हारा एक-एक उपकार ऐसा है जिसका बदला शायद प्राण देकर ही चुकाया जा सके। प्राण एक बार ही दिये जा सकते हैं अतः मैं सदा तुम्हारा ऋणी रहूंगा। ईश्वर न करे उनका बदला चुकाने की नौबत आये क्योंकि वह नौबत तभी आती है जब दूसरे पर कोई संकट हो और उस समय बदला चुकाया जा सके।'

'मय्येव जीर्णतां यातु यत्त्वयोपकृतं कपे।
नरः प्रत्युपकाराणामापत्स्वायाति पात्रताम्।'

आदर्श राजा की दृष्टि से सेवक के उत्कृष्ट कार्य का अच्छा मूल्यांकन करने का राम का यह गुण उनकी एक विशेषता है। वाल्मीकि ने कहा है—

'कथमप्युपकारेण कृतेनैकेन तुष्यति।
न स्मरत्यपकाराणां शतमप्यात्मवत्तया।'

'वे स्वयं उपकार करके तो भूल जाते थे किन्तु दूसरे का उपकार याद रखते थे। किसी का किया हुआ अपकार उन्हें याद नहीं रहता था।'

आदर्श शासक और मर्यादा के प्रेमी महा-पुरुष के रूप में उनके चरित्र का अन्य गुण है—शरणागत-वत्सल होना। जिस समय विभीषण, रावण के कुकृत्यों से खिन्न होकर उनकी शरण में आता है उस समय राम समुद्र-तट पर अपने सैन्य-शिविर में मंत्रणा कर रहे होते हैं। उनके सलाहकारों में से हनुमान, सुग्रीव, जाम्बवान आदि कोई भी इस बात के पक्ष में नहीं बोलता कि विभीषण को अपनी ओर मिला लिया जाय। हो सकता है वह शत्रु का भेदिया हो, हो सकता है जिस प्रकार वह भाई को छोड़कर आ गया उसी तरह हमें भी छोड़कर चला जाय, आदि बातें कही जाती हैं, किन्तु राम शरण में आये को नहीं छोड़ सकते। वे उसे तुरन्त स्वीकार कर लेते हैं। अपने इस निर्णय के लिये उन्हें कभी पछताना नहीं पड़ता। राम के चरित्र का यह आदर्श परवर्ती अनेक राजपूत राजाओं का प्रेरणा-स्रोत बना है और बहुत से राजाओं ने अपने प्राणों की बाजी लगाकर भी शरणागत की रक्षा की है।

—०—

कृष्ण : कर्मयोग के प्रवर्तक

इस देश में ही नहीं विश्व-भर में श्रीकृष्ण के चरित्र और जीवन-दर्शन की जो छाप विगत हजारों वर्षों से चली आ रही है वैसी समूचे विश्व में शायद दो-चार ही व्यक्तियों की होगी। कृष्ण के चरित्र का इतना व्यापक, कालजयी और विश्व-विजयी प्रभाव किस कारण हुआ ? भक्ति-आंदोलन की धाराएं दूर-दूर तक फैलने के कारण चाहे कृष्ण का गोपीजनवल्लभ नटनागर, वंशीवादक, मदनमोहन और रास रचाने वाले स्वरूप का प्रभाव भी बहुत अंशों तक फैला हो किन्तु उनका सबसे अधिक गहरा और व्यापक प्रभाव डालने वाला स्वरूप है गीता के उपदेशक का। तभी तो हजारों वर्षों से उनकी स्तुति में कहा जाता रहा है 'कृष्णं वन्दे जगद्-गुरुम्'। इस जगद्गुरु के मुख से निकली बताई जाने वाली गीता का जितना प्रभाव इस देश में और बाहर भी रहा है शायद ही किसी ग्रंथ का इतना व्यापक प्रभाव रहा हो। विशेषता यह है कि यह ग्रंथ बाइबिल या कुरान की तरह कोई धर्मग्रंथ नहीं रहा, यह शुद्ध दर्शन का ग्रंथ है पर इसकी गणना पवित्र से पवित्र धर्म-ग्रंथ की तरह विश्व में की जाती रही है। इसका क्या कारण है ?

यदि गहराई से सोचा जाय तो इसका कारण है गीता के उपदेशों का वह रूप जो आज सभी देशों और कालों में खरा उतरता है और जिसमें मानव जीवन को सच्ची और हर दृष्टि से खरी उतरने वाली शिक्षा देने वाला चिन्तन निहित है। इस चिन्तन की विशेषता यह है कि इसने कोई नया मार्ग या पंथ नहीं चलाया बल्कि जिस समय गीता लिखी गई उस समय तक इस देश में चल रही समस्त दर्शन-शाखाओं का सार लेकर उनका मानव जीवन के लिए उपयोगी ऐसा समन्वय कर दिया गया जो तब से लेकर आज तक इतना खरा उतरता रहा कि इस देश को किसी दूसरे दर्शन की आवश्यकता नहीं पड़ी। यदि कोई यह पूछे कि इस समूचे जीवन-दर्शन का वह कौन-सा पक्ष है जिसे एक शब्द में समाहित कर बतलाया जा सकता हो तो यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि वह है गीता का 'निष्काम कर्मयोग।'

यह निष्काम कर्मयोग क्या है ? इसे जानने के लिए यदि हम एक विहंगम दृष्टि भारत के प्राचीन दार्शनिक इतिहास की ओर डालें तो सारा चित्र स्पष्ट हो

जाएगा। इस देश के प्राचीनतम ग्रन्थ वेद के समय दर्शन और चिन्तन की जो धारा थी उसमें प्रमुख स्थान उस कर्मकाण्ड का था जो विभिन्न देवताओं को प्रसन्न करने के लिए किए गए यज्ञों के रूप में किया जाता था। कर्मकाण्ड के इस लम्बे प्रभाव की प्रतिक्रिया के रूप मे गम्भीर दार्शनिक चिन्तन की एक ऐसी धारा चली जो एक अदृश्य सत्ता को मानव-मात्र की नियति का नियामक मानती थी और यह बतलाती थी कि आत्म-चिन्तन, मनन और बौद्धिक अनुशासन से ही परम-तत्त्व का ज्ञान हो सकता है, कर्मकाण्ड से या सांसारिक कर्मों से नहीं। इस प्रकार के दार्शनिक चिन्तन की अनेक धाराएं देश में पनपीं जिनमें उपनिषदो का स्थान प्रमुख था। उपनिषदो ने उस अदृश्य सत्ता को ब्रह्म का नाम दिया। यह सारा जगत् उसी का रूप है, सारे प्राणी उसी से पैदा हुए है और उसी में समा जायेंगे। सारा दृश्य जगत् असत्य है और ब्रह्म का ही रूप है। इसका परिणाम यह हुआ कि सारा देश गम्भीर चिन्तन, तपस्या और मनन में लग गया। दर्शन की कुछ नई धाराओं ने यह समझाया कि सांसारिक कर्म आत्मा को जकड़ने वाले ऐसे बन्धन हैं जो आत्मा को अनन्त दुखो में फंसाये रहते हैं। संसार में रहना है तो कर्म से छुटकारा नही मिल सकता और कर्म का स्पर्श भयंकर दुःख का कारण है। जैन-दर्शन के इस सिद्धान्त के कारण समाज में कर्म से ऐसा भय व्याप्त हो गया कि कर्म के बन्धन से छुटकारा पाने की भांति-भाति की विधियां खोजी जाने लगी। शरीर को कष्ट देकर तपस्या द्वारा मुक्ति पाना बहुत पुण्य कार्य माना जाने लगा। इससे विरक्ति फैलने लगी। यद्यपि कर्म से और संसार से विरक्त होकर भाग जाने वाले चरम निवृत्ति मार्ग और संसार में विविध कर्मों द्वारा सफलता पाने वाले प्रवृत्ति मार्ग के बीच का मध्यम मार्ग निकालकर भगवान बुद्ध ने एक नई दिशा देने का प्रयत्न किया पर समाज के विभिन्न वर्गो मे व्याप्त विभिन्न चिन्तन धाराओं का उतना समन्वय नहीं हो सका जितना देश की दार्शनिक निधि को सुदृढ़ करने के लिए आवश्यक था। ऐसे समय मे समस्त चिन्तन-धाराओं का समन्वय घोर आंगिरस ने किया और उसे द्वैपायन कृष्ण ने अपने अद्भुत महाकाव्य महाभारत मे भगवान् कृष्ण के मुंह से कहलवाया। इस समन्वित दर्शन की सबसे बडी देन थी एक ऐसा योग जिससे संसार से भागे बिना, कर्मों से डरे बिना, संसार में रहा जा सके और सांसारिक बन्धनों से छुटकारा भी पाया जा सके। इसे ही निष्काम कर्मयोग या अनासक्ति योग कहा गया है।

गीता में चाहे कर्म-मार्ग का विवरण दिया गया हो या ज्ञान मार्ग का या भक्ति-मार्ग का; उन सबके मूल में यही योग है। कृष्ण का मुख्य सन्देश ही यह है कि चाहे किसी भी मार्ग का अनुसरण करो उसकी विधि या टेक्नीक या जीवन

जीने की कला यही होनी चाहिए।' उन्होंने तो योग को 'जीने की कला' ही बता दिया। 'योगः कर्मसु कौशलम्'। यह अनासक्ति योग है क्या? एक वाक्य में तो इसका सीधा-सा तात्पर्य यह है कि संसार से और कर्मों से भागने की आवश्यकता नहीं है किन्तु उनमें लिप्त होना भी अकल्याणकर है। इसीलिए कर्म करते रहो पर उनमें आसक्ति मत रखो, काम करो और फल की इच्छा मत रखो। शब्दों में तो यह बात बड़ी सीधी और सरल लगती है पर इस ज्ञान मार्ग पर चला कैसे जाय? गीता ने विविध मार्गों से इसी उद्देश्य की पूर्ति व्यावहारिक उपाय बतलाया। जिन स्थितियों में गीता का उपदेश दिलवाया गया है वह स्थिति भी ऐसी है जो मानव के जीवन में हर घड़ी आती रहती है। अर्जुन के मन में यह द्वंद्व जागता है कि वह अपने ही बन्धुओं से युद्ध कैसे करे, उनका वध कैसे करे। अहिंसा और हिंसा का द्वंद्व होता है। कर्म और कर्मसंन्यास के बीच संघर्ष खड़ा होता है। यदि यह मान लिया जाय कि कर्म करते ही उससे उत्पन्न पाप से तुम लिप्त हो जाओगे तो कोई कर्म ही इस दुनिया में न हो। जीवन का नाम ही संघर्ष है। वह समाप्त हो जाए तो विश्व की व्यवस्था ही न चले। पर क्या विश्व की व्यवस्था चलाने के लिए स्वार्थ की होड़ और आपाधापी शुरू कर दी जाय? कृष्ण ने इसी के बीच का मार्ग बतलाया। उन्होंने कहा कि कोई व्यक्ति चाह कर भी कर्म से विरत नहीं हो सकता। हर क्षण कर्म तो करना ही होगा। प्रत्येक कर्म से बन्धन होता हो यह बात नहीं है। कर्म करके उसके फल की इच्छा से ही मन का बन्धन पैदा होता है। इसीलिए जो आपके लिए निर्धारित कर्म है उसे करना और उससे फल की आशा न करना ही सच्चा योग है—'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन'।

पर ऐसा किस प्रकार हो? कर्म करते जाएँ और फल की आशा न रखें ऐसी नट-विद्या किस प्रकार सिद्ध हो? जिस प्रकार से अंत तक मनुष्य अभ्यास और श्रम द्वारा अनेक योग सीखता है उसी प्रकार निष्काम कर्मयोग का सीखना भी असम्भव नहीं है। दो पैरों पर चलना हमें आज कितना सहज और सरल मालूम होता है। पर क्या हमें बचपन के उन दिनों की याद है जब हमारी माताएं हमें दो पैरों पर चलना सिखाती थी? उस समय कितना असम्भव लगता था यह। अभ्यास और कर्मयोग से ही तो यह हुआ है। यह कर्मयोग न हो तो कुछ भी सम्भव नहीं। तभी गीता का दार्शनिक संदेश सर्वप्रथम यही रहा कि संन्यास और कर्मयोग दोनों ही कल्याणकारी हैं किन्तु तुलनात्मक दृष्टि से कर्म-संन्यास की बजाय कर्मयोग अधिक विशिष्ट है। व्यावहारिक दृष्टि से इस कर्मयोग के अनेक उपाय बतलाये गए। जो ज्ञानी हैं उन्हें कहा गया कि इस प्रकार का आत्म-चिन्तन करो कि आत्मा अविनाशी है और मृत्यु केवल उसका चोला बदलना ही है। शरीर क्षण-भंगुर है और यह

अनन्त जगत् भी क्षणिक है। तुम्हारी स्वयं की सत्ता इस जगत् में समुद्र में बूंद की भांति है। ऐसे अनन्त पुरुष, अनन्त देशों और अनन्त कालों में घूमते और कर्म करते रहे हैं. अकेले तुम ही नहीं हो। यही रहस्य है कृष्ण के विराट् रूप दिखाने का। हमारा जो ब्रह्माण्ड है वैसे अनेक ब्रह्माण्ड उस विराट् पुरुष में समाए हुए हैं। हमारे जैसे अनन्त व्यक्ति, अनन्त ऐश्वर्यशाली राजा और अनन्त सम्पत्तिशाली धनिक कीड़ों की तरह आते-जाते रहते हैं। यह सब आत्म-चिन्तन आपको अपने अहंकार से और अपने घर-बार से, धन-सम्पत्ति से, ममत्व न होने देगा। इस ममत्व से मुक्ति के बहुत व्यावहारिक उपाय गीता में हैं। सारे सांसारिक कु-कर्म लालसा या तीव्र इच्छा से होते हैं। इनका बहुत सुन्दर दृष्टान्त बताया गया है। काम यानि इच्छा से क्रोध, क्रोध से मतिभ्रम और उस मतिभ्रम से अन्य अनेक कु-कर्म करने की प्रेरणा और अन्त में विनाश। इन सबसे बचने का उपाय है अनासक्ति। काम करते रहने और उससे होने वाले लालच को छोड़ देने का जीवन का अभ्यास ही यह योग है।

जिन्हें इस प्रकार के चिन्तन और मानसिक अनुशासन का पात्र नहीं समझा गया उनके लिए एक सरल मार्ग भी बतलाया गया जिसे भक्ति-मार्ग कहा जा सकता है। यदि प्रयत्न करने पर ममता और लालसा नहीं छूट रही हो तो अपने आराध्य के प्रति इतने समर्पित हो जाओ कि यह सब उनका है—यह मानकर चलो। सब धर्मों को छोड़ दो और ईश्वर की शरण में चले जाओ। शरणागति का यह सिद्धान्त भी इसी अनासक्ति के जीवन दर्शन का एक व्यावहारिक पक्ष है। अपना सब-कुछ उनका ही है। यह मानते ही अपनी वस्तुओं के प्रति अनासक्ति क्या नहीं होगी? मैं तुम्हें सब पापों से मुक्त करूंगा, तुम्हारा योगक्षेम मैं वहन करूंगा, ये सब घोषणाएं इसी हेतु हैं कि व्यक्ति पाप के भय से कर्म से विरत न हो किन्तु साथ-ही-साथ अपने सांसारिक स्वार्थ के कारण इतना संचय न करने लग जाय कि समाज ही विशृंखलित हो जाय।

कर्म की इस कला के अनेक व्यावहारिक उपायों में से एक आज की स्थितियों में बहुत सटीक बैठता है। आज हम बहुधा अपने की ओर न देखकर दूसरे के काम की ओर देखते हैं और यह सोचते हैं कि मैं यह काम उससे अधिक अच्छा कर सकता हूं। अनेक संकट इसी से पैदा होते हैं। निष्काम कर्मयोग में यह सबसे बड़ी बाधा है। गीता ने कहा कि जो काम तुम्हारे लिए नियत किया गया है उसे चाहे तुम सर्वांगपूर्ण न कर पाओ और दूसरे का काम चाहे अधिक अच्छा कर पाओ तो भी वैसा न करो। स्वधर्म का आचरण ही हर दृष्टि से श्रेष्ठ है। परधर्म का आचरण, चाहे वह कितना ही अच्छा किया जा सकता हो, नहीं करना चाहिये।

शिव : शाश्वत विभूति

शिव की सर्वाधिक ख्याति-प्राप्त स्तुति "शिव-महिम्नः-स्तोत्र" में इसके रचयिता पुष्पदन्त ने लिखा है कि सारी पृथ्वी को कागज बनाकर, समुद्रों के जल में कज्जल के पहाड़ का काजल घोलकर कल्पवृक्ष की टहनी की कलम से स्वयं शारदा अनन्तकाल तक शिव के गुण लिखती रहें तो भी उनका अन्त नहीं होगा !! भक्तों की इस दृष्टि से देखा जाए तो शंकर के गुण अनन्त होंगे ही। भक्ति के दृष्टिकोण को छोड़ भी दिया जाए तो भी इस बात पर आश्चर्य हुए बिना नहीं रहता कि इस एक देवता शम्भु ने पिछले हजारों वर्षों में इस देश की समूह चेतना को कितने विविध रूपों में अंकृत किया है। राम, कृष्ण और शिव इन तीन देवताओं की छाप इस देश के सामूहिक अवचेतन में सर्वाधिक व्यापक है किन्तु चरित्र की ओर इयत्ता की जितनी विविधता महादेव के रूप में है उतनी शायद ही विश्व के किसी देवता में मिले। उनमें इतने विरोधी रूपों का एक साथ समावेश है कि उनका विवरण वास्तव में अनन्तकाल तक अनन्त ग्रन्थों में लिखने पर भी पूरा नहीं हो सकता।

पिछले दिनों अनेक शोधविद्वान यह सिद्ध करने में जुटे थे कि महादेव अनार्य देवता हैं और भारत के बाहर से आये थे क्योंकि उनकी पूजा का बहुप्रचलित रूप जो लिंग पूजा के रूप में चला आ रहा है यह अनेक प्राचीन देशों में चली शिश्न पूजा या फैलसवर्शिप का प्रभाव है। यह पूजा मिस्र और पश्चिमी एशिया के देशों में युगों से प्रचलित रही है। कुछ विद्वानों ने सिन्धु घाटी सभ्यता के पशुपति और त्रिशिरा देवता को इसी प्रकार की अनार्य परम्परा का देवता माना है। उधर अनेक विद्वानों ने यह भी बताया है कि द्रविड़ सभ्यता के देवता नीललोहित को शिव के रूप में अपना कर आर्यों ने अपना बना लिया था। जो भी हो, हजारों वर्षों से, वेद से लेकर आज तक, इस देवता की मान्यता अनेक रूपों में हर युग में रही है।

वेदों में शिव नाम कहीं नहीं है (है तो वह एक आदिवासी जाति का वाचक है) किन्तु रुद्र वैदिक संस्कृति के एक प्रमुख देवता हैं। वे उग्र हैं। कभी आंधी और

कभी प्रलय के रूप में दिखाते हैं। उनके हाथ में पिनाक धनुष है। वे गज-चर्म पहनते हैं (यह गज पश्चिम एशिया मे नही मिलता)। यजुर्वेद के रुद्राध्याय में जिसे "रुद्री" कहकर आज भी शिवरात्रि जैसे उत्सवों पर और शिव-पूजा के अवसर पर पढ़ा जाता है, इन्हें युद्ध का देवता बताया गया है। यही उग्र देवता उपनिषद् काल तक आते-आते शिव के रूप में कल्याणकारी और आशुतोष हो जाते हैं। संहार के देवता, कल्याण के देवता बन जाते हैं। श्वेताश्वतर उपनिषद् शिव की उपनिषद् मानी जाती है। इसमें इन्हे ईशान, महेश्वर आदि नामों से अभिहित किया गया है। कहीं कही उन्हे आकाश मे मृग (मृगशिरा नक्षत्र) के पीछे धनुष लेकर दौड़ने वाला बताया गया है। तीन नेत्रों वाले अग्नि स्वरूप और क्रोधी रुद्र को उनके क्रोध से बचने के लिए वेदकाल मे आहुतियां दी जाती थी। शायद इस क्रोध को शांति में परिवर्तित करने के लिए ही उपनिषदो ने इन्हें मृड और शंकर (कल्याणकारी) बनाने का प्रयत्न किया। आशुतोष और शिव बना दिया।

पुराणों ने इस देवता मे और भी अधिक रुचि ली और श्मशानवासी, भस्मधारी इस बाबा का विवाह करा दिया। दक्ष की पुत्री सती के पति बनते ही उनका रौद्र रूप कोमल हो गया। हिमालय की पुत्री पार्वती के पति बनने के बाद तो संहार का यह देवता शृंगार का देवता हो गया। आजकल तो यह मान्यता दृढ है कि शिव पार्वती से बढ़कर सुहाग और कोई नही दे सकता। पुराणो ने इस देश की अलग-अलग देव भावनाओ को संतुष्ट करने के लिए इस देवता को जितने रंग दिये हैं उनमें न केवल देश की सांस्कृतिक एकता का चित्र देखा जा सकता है बल्कि हमारी दार्शनिक भित्ति के मूल आधार "समन्वय" को भी पहचाना जा सकता है। कितने विरोधी भाव इस देवता में समन्वित हो गये हैं। प्रलय और मृत्यु का यह देवता समुद्र मन्थन से निकले विष को पी लेता है किन्तु कंठ मे ही रोककर उसे धारण कर लेता है। तभी तो यह विषपायी नीलकण्ठ मृत्युंजय हो जाता है। जीवन का सबसे बड़ा प्रेरक।

हिमालय की पुत्री से विवाह कर निरन्तर समाधि मे रहने वाला यह देवता कैलाश रूपी ससुराल में निवास करता है और भगीरथ की प्रार्थना पर स्वर्ग से उतरी गंगा को अपने जटाजूट मे धारण करता है। पुराणो ने शायद इस देश की समन्वय चेतना को तृप्त करने के लिए ही त्रिदेवों की कल्पना की थी, ब्रह्मा, विष्णु और महेश। यहां आते-आते रुद्र का धनुष पिनाक गायब हो गया, त्रिशूल उनके हाथ में आ गया, सिर पर चन्द्रमा सुशोभित हुआ, तीन नेत्र और जटा मे गंगा धारण करने वाला, सर्पों के आभूषण रखने वाला एक निराला महादेव प्रकट हुआ। ब्रह्मा

उत्पत्ति के, विष्णु पालन के और महेश संहार के देवता बनें। इन तीनों देवों की उपासना शुरू हुई। ब्रह्मा की उपासना अधिक नहीं चल पाई जिसका कारण किसी का शाप बताया गया। किन्तु विष्णु और शिव की उपासना अनेक आयामों में बढ़ती गयी। वैष्णव और शैव दोनों के तांत्रिक सम्प्रदाय भी बढ़ते गये और भक्ति सम्प्रदाय भी। भक्ति आंदोलन ने इन दोनों देवताओं को दयालु, वरदायक और भक्ति के आलंबन के रूप में देखा। दक्षिण के आलवार भक्तों ने विष्णु की भक्ति फैलाई, नायनार भक्तों ने शिव की। वैष्णव और शैव सम्प्रदायों में प्रतियोगिता भी चली किन्तु समन्वय की दृष्टि ने तुरन्त उसमें सामंजस्य स्थापित किया। विष्णु को शिव का भक्त बताया गया और शिव को विष्णु का। तुलसीदास ने राम के द्वारा रामेश्वरम् के शिवलिंग की स्थापना करवायी और शिव को राम का परम भक्त बतला दिया।

शिव का प्रतिपादन अनेक पुराणों में किया गया है जिनमे वायुपुराण और लिंगपुराण प्रमुख हैं। पुराणकाल के इस रूप से बिल्कुल अलग-थलग शिव का तांत्रिक रूप है। तन्त्र का आधार न तो भक्ति है न कर्मकांड। उसका दर्शन चेतना और इच्छा-ज्ञान-क्रिया के सिद्धान्त पर आधारित है। सारे विश्व मे व्याप्त चेतना की शक्ति है क्रिया और इच्छा शिव है। शाक्त तन्त्र में देवी को शिव का अर्द्धांग इसी आधार पर बताया गया। अर्द्धनारीश्वर की कल्पना भी इसी से जन्मी। शैवतन्त्र का भी पूरा विस्तार ईसा की दूसरी शती से विशेषकर आठवीं से बारहवीं सदी तक फैलता गया। इसकी चार शाखाएं तो बहुत प्रसिद्ध हो गईं। कापालिक, पाशुपत, वीरशैव और काश्मीरक। इनकी पूजाविधियां अनन्त है जिनमें मिट्टी के (पार्थिव) शिवलिंग के पूजन से लेकर पंचमुखी महादेव के पूजन तक के प्रकार हैं।

कापालिक सम्प्रदाय, श्मशान में रहने और कपाल मे भोजन करने वाले और चिता भस्म रमाने वाले उग्र तांत्रिकों का था। साहित्य में नरबलि देने वाले मद्यपायी तांत्रिकों का वर्णन बहुत मिलता है। पाशुपत सम्प्रदाय दण्डधारी लकुलीश द्वारा चलाया गया था। इसके उपासक लंबी जटाएं रखते, नाचते गाते और "बम्-बम्" की ध्वनि करते थे। बहुत कम लोगों को विदित होगा कि इस सम्प्रदाय का केन्द्र राजस्थान, गुजरात और मध्यप्रदेश था। डा० भांडारकर को सीकर के हर्षपर्वत पर 975 ई॰ का एक शिलालेख मिला था जिसमे इसी सम्प्रदाय के गुरु विश्वरूप का हवाला है। काश्मीर के "प्रत्यभिज्ञातंत्र" का अनुयायी एक शैव सम्प्रदाय कश्मीर मे पनपा जिसमे अद्वैतवादी आगम सिद्धांत स्थापित कर तात्रिक विवेचन

करने वाले अनेक आचार्य हुए। इसी प्रकार कर्णाटक के वीरशैव या लिंगायत सम्प्रदाय ने दक्षिण में अपने झंडे गाड़े। तमिल प्रांत में इसी सम्प्रदाय के 84 संत हुए जिनमें ज्ञानसम्बन्ध और माणिक्यवाचकर सुप्रसिद्ध हैं। शिव के तांत्रिक स्वरूप में शिवलिंग की उपासना पनपी जिसे सृष्टि के प्रतीक के रूप में शिवशक्ति के द्वंद्व का प्रेरक बताया गया। इसी को देखकर शोध विद्वान शिव पूजा को फैलस-वर्शिप बताते हैं। किन्तु भारतीय परम्परा के समर्थक शिवलिंग को अग्नि की ऊर्ध्वगामी ज्योति का रूप बतलाते हैं और इसी कारण इनका नाम ज्योतिर्लिंग (अग्नि का प्रतीक) पड़ा बताते हैं। इसी की पूजा के केन्द्र 12 ज्योतिर्लिंगों के रूप में देश में फैले। काशी के बाबा विश्वनाथ को मुक्ति के दाता बताया गया और काशी को शिव के त्रिशूल पर टंगी हुई मुक्ति नगरी माना गया।

राजस्थान ने शिव के प्रेमी और पति के रूप में ही अधिक रस लिया है। यहां के लोकमानस ने गौरी के पति शिव को सुहाग के देवता के रूप में लोकगीतों का नायक बनाया। गौरी या गणगौरी के साथ ईश्वर (शिव) को ईसर जी बनाकर ईसर गणगौर को आदर्श दम्पति और सुहाग के दाता मानकर आजकल भी गांव-गांव में पूजा जाता है। गणगौर के गीतों में तो इस अनादि देवता का वंशवृक्ष भी बताया गया है। उन्हें अनादि निधन, ब्रह्मा से सीधे प्रकटे हुए बताना चाहा गया है। उन्हें "बिरमाजी" का बेटा इसीलिए कहा गया। कुछ लोग बिरमाजी को ब्रह्माजी भी समझ लेते हैं। शिव का यह शृंगारी रूप निराला ही है। कौन कह सकता था कि वेदों का रुद्र हर हर महादेव के जयघोष का युद्ध देवता और तंत्रों का भूतभावन परमशिव ईसर गणगौर की जोड़ी का शृंगारी नायक बन जाएगा? श्मशान की धूनी रमाने वाला मृत्यु का देवता सबसे बड़ा मंगलकारी सौभाग्यदाता बन जाएगा। मृत्यु के स्नान के बाद उनके दर्शन करना अमंगलहारी और मंगलकारी इसीलिए माना जाता है। शंकर में मृत्यु और जीवन एक साथ समाहित हो गये हैं।

इन सब रूपों से निराला शिव का एक और रूप है, नटराज का, जिसे संगीतकारों ने अपना देवता बना लिया है। युद्ध का देवता ताण्डव नृत्य करते-करते कब नृत्य का देवता बन गया कोई नहीं जानता। पुराणों ने और कालिदास जैसे कवियों ने भी नटराज के इस नृत्यप्रिय रूप का वर्णन किया है। दक्षिण में बनी नटराज की मूर्ति आज आधुनिक ड्राइंग रूमों तक की शोभा बढ़ा रही है और संगीतकारों को प्रेरणा दे रही है।

भक्तों ने अपने इस आराध्य को पूरा घरबारी देवता बना लिया है। पार्वती उनकी पत्नी है, छः मुंह वाले कार्तिकेय और हाथी के मुंह वाले गणेश, उनके दो

पुत्र हैं, नन्दी बैल उनका वाहन है, त्रिशूल, डमरू इनके आयुध हैं। औघड़दानी दिगम्बर इस बाबा का परिवार अपने आप में समन्वय का प्रतीक है। कार्तिकेय दक्षिण से आये, पार्वती सुदूर हिमालय से, गणेश पश्चिम से, पर सब एक परिवार में समन्वित हो गये। तभी तो विष्णु के चतुर्व्यूह की तरह शिव के व्यूहों की भी पूजा विधि विधान से होती है। यही कारण हैं कि इस देवता के रूप भी अनन्त हैं और गुण भी।

इस छोटे से आलेख में क्या उन्हें बांधा जा सकता है ? जो देवता सारे विरोधों को एक साथ समन्वित किये हुए हैं, जिसने इस देश के सारे कोनों को और इतिहास के सारे युगों को अपने आप में समाहित कर लिया है, उस महाकाल को क्या कोई समझ सकता है ?

—०—

भारत में शिव के द्वादश ज्योतिर्लिंग

सौराष्ट्रे सोमनाथं च श्रीशैले मल्लिकार्जुनम्।
उज्जयिन्यां महाकालम् ओंकारे परमेश्वरम्॥
केदारं हिमवत्पृष्ठे डाकिन्यां भीमशंकरम्।
वाराणस्यां च विश्वेशं त्र्यम्बकं गौतमी-तटे॥
वैद्यनाथं चिताभूमौ नागेशं दारुका-वने।
सेतुबन्धे च रामेशं घुश्मेशं तु शिवालये॥
(शिव पुराण)

1–सोमनाथ, सौराष्ट्र में, 2–मल्लिकार्जुन, दक्षिण में कृष्णानदी तट पर, 3–महाकाल, उज्जयिनी में, 4–ओंकारेश्वर, उज्जयिनी के पास, 5–केदारनाथ, हिमालय में, 6–भीमशंकर एक मतानुसार बम्बई व पूना के पास, दूसरे मत में गोहाटी के पास, तीसरे मत में नैनीताल के पास, 7–विश्वनाथ, काशी में, 8–त्र्यम्बकेश्वर, नासिक में, गोदावरी तट पर, 9–वैद्यनाथ, एक मत में संथाल परगना में, दूसरे मत मे परली, आन्ध्र में, 10–नागेश, एक मत में आन्ध्र में, दूसरे में अलमोड़ा में, तीसरे में द्वारका में, 11.रामेश्वर सेतुबंध तथा 12-घुश्मेश्वर आन्ध्र में, अन्य मत में सिवाड़ राजस्थान में।

गंगा : देश की तीर्थ चेतना

गंगा नदी ने पिछली अनेक सहस्राब्दियों में भारत की नगर संस्कृति और जनपद-चेतना को ढाला है। हमारी आर्थिक समृद्धि की स्रोत के रूप मे तो यह देश की धरती को प्राण देती ही है किन्तु उससे भी अधिक इसका महत्व देश की धार्मिक और सांस्कृतिक चेतना को जीवित रखने वाले एक मूर्तिमान प्रतीक के रूप में है। आज तो ऐसा लगता है कि गंगा में इस देश की सारी तीर्थ चेतना समाहित है।

देश के किरीट उत्तुंग हिमालय से उतरती इस दिव्य नदी को वेद के ऋषि ने स्वर्ग से उतरती देव-नदी के रूप में देखा था। पुराणों ने बताया कि स्वर्ग से निकलने वाले इस पीयूष प्रवाह को शंकर ने अपने जटाजूट मे धारण किया। हिमाचल का ऊंचा कैलास शिखर शिव का जटाजूट ही तो है। जटाजूट से नीचे गंगोत्तरी के हिमनद से बह कर भागीरथी ने विष्णुपदी, मंदाकिनी आदि न जाने कितने रूपों मे इस देश की असंख्य पीढ़ियों को पावनता प्रदान की, इसके तटों पर असंख्य तीर्थ बने। यह सबसे बड़ा तीर्थ हो गई। सारे देश के जन जीवन में गंगा का एहसास पुण्य के पर्याय के रूप में जुड़ गया। जन्म से मरण तक गंगा सांस्कृतिक धड़कन के स्वर के रूप मे गूंजती रहती है। राजस्थान जैसे क्षेत्रों मे भी, जहां से होकर गंगा नही बहती उसकी गौरव गाथा जीवन की सांसों में घुल गई है। बच्चा जन्मता है तो उसकी माता प्रसूति स्नान के बाद गंगा का पूजन करती है जिसे गंगा पूजी कहा जाता है। आस्तिक लोग स्नान के समय गंगा का नाम लेते हैं। पवित्रता के हर संस्कार में पावनता की प्रतीक गंगा का स्मरण अवश्य किया जाता है। विवाह के बाद वर-वधू, चाहे गंगा के किनारे तक यात्रा कर, या घर बैठे ही गंगा जल की शीशी के आगे, या उसके बिना भी गंगा का स्मरण करके, 'गंगा-पूजा' अवश्य करते हैं। विवाह की रीतियों मे यह अन्तिम रस्म होती है। मृत्यु से पूर्व मुख में गंगाजल दिया जाता है। देह-पात के बाद यदि शव इतनी दूर से ले जा कर गंगा में नहीं बहाया जा सकता तो कम से कम अस्थियां जरूर गंगा मे विसर्जित की जाती है। राजस्थान का निकटतम गंगा-तीर्थ शूकर क्षेत्र (सोरो) इसी कार्य का तीर्थ बन गया है। कोई भी तीर्थ यात्रा पूरी करके राजस्थानी जब घर लौटता है तो गंगा-पूजन करके ब्राह्मण भोजन करवाता है, जिसे गंगा भोज या "गंगोज" कहा जाता है।

आज भी ग्रामीण अंचलों मे महोत्सव की तरह गंगोज के आयोजन होते हैं। गंगा के स्मरण के बिना तीर्थ चेतना संतुष्ट नही होती है। कहते हैं गगाभोज के समय गंगाजली रख कर उसके सामने भक्ति भाव से जब स्तोत्र गाये जाते हैं तो पात्र के बाहर तक गंगा उफन आती है।

धर्म और पुण्य की प्रतीक इसी गंगा के नाम से अदालतो में शपथ दिलाई जाती थी। 'गंगा-जली' पर हाथ रखकर कोई झूंठ नही बोल सकता था। किसी काम की पूर्ति हो गई तो हम 'गंगा नहा लिये'। चाहे गंगा से कितनी ही दूर बसा हो, अपनी कन्या का नाम गंगा और पुत्र का नाम गंगासहाय या गंगाधर रखकर उत्तर भारतीय गौरवान्वित होता है। जिस प्रकार गंगोत्री का जल सुदूर दक्षिण के रामेश्वरम् के शिवलिंग पर चढ़ कर देश को सांस्कृतिक एकता मे पिरोता है, गगा की भक्ति देश को सामाजिक एकता में बाधे रखती है।

शंकराचार्य, जयदेव आदि की लिखी अनेक गंगा स्तुतियाँ संस्कृत में हैं। अब्दुर्रहीम खानखाना (रहीम) का संस्कृत में लिखा गङ्गाष्टक इस बात का ज्वलन्त और अद्भुत प्रमाण है कि गंगा के प्रति श्रद्धा वर्ग विशेष या धर्म विशेष की सीमाओं से आबद्ध नही थी। दक्षिण भारत में भी गंगा के प्रति ऐसी ही श्रद्धा है। इन दिनों तमिलनाडु को कृष्णा नदी का जल भेजने के लिए जो नहर श्रीशैलम् (आन्ध्र) से निकाली जा रही है उसका नाम "तेलगु गंगा" रखना इसी का एक स्पष्ट प्रमाण है।

गंगा का सर्वोत्कृष्ट स्तोत्र गंगा-लहरी माना जाता है जो सारे देश में उसी श्रद्धा से गाया जाता है जिसे भावना से इसके रचयिता पंडितराज जगन्नाथ ने लगभग तीन सौ वर्ष पूर्व गंगा के तीर पर गाया था। इसकी कहानी भी एक मिथक सी बन गई है। आन्ध्र प्रदेश से आ कर दिल्ली मे बसे उद्भट विद्वान, शास्त्रकार और कवि जगन्नाथ जहांगीर और शाहजहां के दरबार मे सम्मानित और पंडितराज की उपाधि से विभूषित थे। दरबार की एक यवन सुन्दरी लवंगी का मन उन्होने अपने काव्य सौन्दर्य और प्रत्युत्पन्नमतित्व से जीत लीया। इस प्रणय-निवेदन का परिणाम हुआ स्वयं बादशाह की सहमति से दोनो का विवाह। तत्कालीन पंडितो ने इस पर आपत्ति की पर इतने बड़े विद्वान के लिए दण्ड क्या होता? जगन्नाथ वल्लभाचार्य के पुत्र गुसाईं विठ्ठलनाथ के दौहित्र थे। कहते हैं अपने इस अपवाद का परिमार्जन करने के लिए वे गगा किनारे पत्नी सहित वल्लभाचार्य के महल में बैठ गये। महल की 52 सीढियों के नीचे गंगा बह रही थी। उसकी स्तुति में भाव विभोर होकर वे संस्कृत के शिखरिणी छंदों में पद्य गाने लगे। एक-एक पद्य सुनकर गंगा की लहरें एक-एक सीढ़ी चढ़ने लगी और इस "पीयूष लहरी" के 52 पद्य पूरे होते ही गंगा

ने पंडितराज और यवन सुन्दरी दोनों को नहला कर पवित्र कर दिया। गंगा का विशिष्ट विशेषण है, पतित-पावनी।

एक किंवदंती यह भी है कि शाही दरबार की यवन सुन्दरी से प्रेम विवाह करके पंडितराज जाति बहिष्कृत हो गये। कुछ समय बाद उनकी प्रेयसी की मृत्यु हो गई। शोक विह्वल होकर वे उसका शव हाथों में लेकर गंगा किनारे स्तुति गाने लगे। 52 पद्य पूरे होते ही घाट की 52 सीढ़ियों को चढ़ कर गंगा दोनों को अपनी गोद में बहा ले गई। जो भी हो, गंगा लहरी तभी से गंगा का भारत विख्यात स्तोत्र बन गया। शायद इस गाथा से ही यह प्रतीक जनमा है कि आज भी भक्ति-गीत गाने से गंगाजली से गंगा उफन पड़ती है। उसके प्रति श्रद्धा और कृतज्ञता आज भी प्रत्येक भारतीय के हृदय में, विशेषकर उत्तर, पूर्व और पश्चिम भारत में उफनती ही रही है। तभी तो मानवीकरण द्वारा एक देवी के रूप में उसकी पूजा भी की जाने लगी। सफेद मगर पर बैठी, चारों भुजाओं में अमृतकलश, कमल, वर और अभयदान लिये श्वेतवस्त्र-धारिणी गंगामाता के मन्दिर भी स्थान-स्थान पर मिलते हैं। भूतपूर्व जयपुर नरेश माधोसिंह प्रतिदिन गंगा और गोपाल की मूर्तियों की पूजा करते थे। गंगामाता का एक मन्दिर आज भी जयपुर में सुप्रसिद्ध है।

—o—

अच्युतचरणतरंगिणि मदनान्तकमौलिमालतीमाले ।
त्वयि तनुवितरणसमये हरता देया न मे हरिता ॥

—[अब्दुर्रहमान खानखाना कृत दुर्लभ "गङ्गाष्टकम्" से]

अच्युत-चरण-तरंगिणी सिव-सिर मालतिमाल ।
हरि न बनायो सुरसरी कीजो इन्दव-भाल ॥

—[रहीम का प्रसिद्ध दोहा जो ऊपर उद्धृत संस्कृत पद्य का अनुवाद है]

हनुमान : सेवा के आदर्श

स देश के सांस्कृतिक इतिहास में हनुमान को सदा से आदर्श सेवक माना गया है। वामी के हितों में अपने हित का अन्तर्लयन कर देना, आज्ञा पालन आदि उनके गुण र्वविदित हैं। इन गुणों के अनेक आयाम ऐसे हैं जो आधुनिक सन्दर्भों में भी टीक बैठते हैं और सार्वजनिक सेवाओं के लिये विहित प्रमुख मानदण्ड के रूप में ाज भी सभी राज्य सेवाओं के लिए अनुकरणीय हैं। रामकथा की एक घटना से या उसमें हनुमान की भूमिका से आज की सार्वजनिक सेवाओं का वह आदर्श स्पष्ट ोता है जिसे हम परिणाम–निष्पादक या रिजल्ट-ओरिएण्टेड कार्यकुशलता हते हैं।

फलोन्मुख कार्य-निष्पादन—

राम-रावण-युद्ध में लक्ष्मण शक्ति के प्रहार से मूछित हो जाते हैं। तुरन्त नका उपचार आवश्यक हो जाता है, अन्यथा उनका जीवन नही बच सकेगा। उसी मय लंका के सबसे बड़े शल्यचिकित्सक (सर्जन) सुषेण को लाया जाता है। यहां ाल्मीकि के वर्णानानुसार सुषेण एक विज्ञानकुशल चिकित्सक वानर है जो राम की ना का प्रमुख चिकित्सक है। वाल्मीकि ने लंका के किसी सर्जन को लाये जाने की टना वर्णित करने की बजाय यह बतलाया है कि लक्ष्मण के मूछित होते ही सुषेण ानर उनकी जांच करता है और यह बताता है कि यदि जल्दी लक्ष्मण को स्वस्थ रना है तो चार प्रकार के आपरेशन अभी करने होंगे। शल्य निकालना होगा, घाव रने हेतु विशेष ड्रेसिंग करनी होगी। त्वचा का संधान यानी स्किनग्राफ्ट करना ोगा और हृदय को मजबूत करने की दवा देनी होगी। यह भी दिलचस्प बात है क वाल्मीकि रामायण में ठीक इन्हीं चार कार्यों के लिए सुषेण चार औषधियां तलाता है जिनके नाम से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि इन चारों उच्चतम चिकित्सकीय क्रियाओं की अवधारणा उस समय भी थी। सुषेण क्रमश: "विशल्य-रणी" "सावर्ण्य-करणी" "सन्धानी" और "संजीव-करणी" इन चार औषधियों ो द्रोणाचल से तुरन्त मंगवा लाने को कहता है जिनके ठीक यही उपयोग है।

सकते हों। वाल्मीकीय रामायण के टीकाकार गोविन्दराज "वाचं चोदाहरिष्यामि मानुषीमिह संस्कृताम्" का अर्थ यही करते हैं कि उन्होंने सीता की देश भाषा में बोलना शुरू किया। इसके बाद वे अनेक ऐसी बातें बताकर सीता का विश्वास अर्जित करते हैं जो राम के अलावा कोई नहीं जान सकता था। राम की अंगूठी और चूड़ामणि वे बाद में ही देते हैं क्योंकि उन्हें तो शत्रु भी छीनकर ला सकते थे और इससे अनेक शंकाएं भी सीता को उत्पन्न हो सकती थीं। जिस तक सन्देश पहुंचाना हो उसका पहले विश्वास अर्जित करना और फिर विश्वसनीय ढंग से अपनी बात पहुंचाना आज के राज्य सेवक के लिए उतना ही वांछनीय गुण है। परिवार नियोजन या ग्रामीण विकास का सन्देश यदि अधिकारी जनता की अपनी बोली मे पहुंचाता है तो उसका असर कुछ दूसरा ही होता है।

ये कुछ ऐसे आयाम हैं जिन्हें हनुमान का चरित्र उजागर करता है और जो आज के सन्दर्भ में सटीक बैठते हैं। ऐसा राज्य सेवक ही सफल होता है और सफलता अपने आप मे बहुत बड़ा पुरस्कार है। आज के राज्य-सेवक अच्छी सेवा के उपलक्ष्य में पदोन्नति या पुरस्कार चाहते हैं। हनुमान कौन सा पुरस्कार चाहते हैं? राम ने तो यह कह दिया कि प्राण देकर भी वे उनके उपकारों का बदला नहीं चुका सकते। यह अभ्युक्ति अपने आप में कितना बड़ा पुरस्कार है। इतना अच्छा रिमार्क गोपनीय प्रतिवेदन में लग जाए तो कुछ अच्छा फल मिलेगा ही। तब हनुमान ने क्या चाहा? केवल यही कि जब तक राम कथा विश्व में जीवित रहे वह भी जीवित रहे। यह अमरता उन्हें इसीलिए मिली कि राम के इतिहास के साथ वे अविभाज्य रूप में जुड़ गये। जब तक राम का नाम रहेगा उनका नाम रहेगा।

एक यशस्वी कार्यकर्त्ता और अधिकारी को इतना यश मिल जाना कि वह इतिहास मे अमर हो जाये, क्या किसी बड़ी से बड़ी पदोन्नति या पुरस्कार से तोला जा सकता है? यह पुरस्कार हनुमान को अपने आप मिल गया। उन्होंने मांगा कुछ नहीं। देश के इतिहास मे, कालपात्र में, अमर हो जाने का यह पुरस्कार फिर भी उनकी अमूल्य सेवाओं के सामने कुछ नहीं है।

—o—

अश्विनीकुमार : देव युगल

भारतीय संस्कृति में वेदकाल से लेकर अब तक देवताओं की जो अवधारणा रही है उसकी यह विशेषता है कि किसी अलौकिक या अनजाने रहस्य को देवता मानने की बजाय हमने प्राकृतिक तत्वों या महामानवों को देवता के रूप में पूजा है। वेदकाल का ऋषि, सूर्य, अग्नि, वायु आदि प्राकृतिक तत्वों को देव कहता है। पुराण काल तक आते-आते राम और कृष्ण जैसे महामानव देवत्व प्राप्त कर लेते हैं और मध्यकाल में तो नागपंचमी के दिन सांपों की और वट जैसे वृक्षों की पूजा जन्तुओं और पेड़ों को भी देवता बना देती है। विद्वानों का मानना है कि वैदिककाल के प्रारम्भ में भौतिक प्राकृतिक तत्वों को देव रूप में देखा गया था और धीरे-धीरे उन प्रतीकात्मक देवों का वैज्ञानिक रूप विकसित हुआ। वैदिक देवताओं की अवधारणा को बृहदारण्यक उपनिषद् का एक रोचक आख्यान भलीभांति स्पष्ट कर देता है। महर्षि याज्ञवल्क्य से शाकल्य पूछते हैं कि देवता कितने हैं। याज्ञवल्क्य इसका उत्तर विविध प्रकार से देते हैं। वे कहते हैं देवता एक भी हैं, डेढ़ भी, तीन-छः तैंतीस-तैंतीस हजार और तैंतीस लाख भी। इनका निर्वचन वे यों करते हैं। वस्तुतः प्राण ही एक देवता है। प्राण से उत्पन्न भूत को भी यदि देव माना जाए तो इस प्रकार डेढ़ देवता हो जाते हैं फिर पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्यु यों तीन देवता हैं। इन तीनों के साथ इनके अधिष्ठाता अग्नि, वायु और सूर्य को मिलाकर देवता 6 हो जाते हैं। फिर 8 अग्नि जिन्हें वसु कहा गया है, 11 वायु जिन्हें रुद्र कहा गया है और 12 आदित्य मिलकर 31 हो जाते हैं तथा इनके साथ प्रजापति और इन्द्र को मिलाकर 33 देवता हो जाते हैं।

इस प्रकार उपनिषद् काल तक इन वैज्ञानिक तत्त्वों को ही प्रमुखतः देव माना गया था। प्रजापति और इन्द्र के स्थान पर कभी-कभी प्रजापति और वषट्कार का नाम भी लिया गया है, कहीं द्यावापृथिवी का और कहीं अश्विनी का। स्पष्ट है कि ये सब वैज्ञानिक तत्वों के प्रतीक देवता हैं। इनमें अश्विनी या अश्विद्वय के रूप में जाने जाने वाले देवता एक विशिष्ट स्थान रखते हैं जो परवर्ती पौराणिक काल में अश्विनी कुमारों के रूप में विख्यात हुए।

ये दो देवता वेदकाल से ही बहुत रुचिकर वर्णन के विषय रहे हैं। ऋग्वेद में इनका वर्णन बड़ा चमत्कारपूर्ण पाया जाता है। इनके लिए लगभग 50 सूक्त ऋग्वेद में मिलते हैं। ऋग्वेद का ऋषि इन्हें स्वर्णिम प्रभात के पूर्व दो घोड़ों से जुते रथ में बैठकर आने वाले तीव्रगामी जुड़वां भाइयों के रूप में वर्णित करता है। ये चिर-युवा है परम सौन्दर्यवान हैं तथा वृद्धों को युवा बना सकते है। इनका वर्णन हमेशा द्विवचन मे किया गया है। ऋग्वेद में इनके साथ अनेक कथाएं जुड़ी बताई गई है। इन्होने अपने द्रुतगामी अश्वों की सहायता से जल मे डूबे हुए भुज्यु ऋषि को उभारा था, च्यवन के बुढापे को हटाकर उसे युवा बनाया था, अनेक राजाओं की सहायता की थी, अनेक अन्धों को नेत्रदान किया था, अत्रि को ज्योति दी थी, प्रेमी-युगलों को मिलाया था तथा ऐसे अनेक चमत्कारी कार्य किये थे।

युवं च्यवानं जरसोऽमुमुक्तं नि पेदव ऊहथुराशुमश्वम्।
निरंहसस्तमसः स्पर्तमत्रि नि जाहुषं शिथिरे धातमन्तः। (ऋग्वेद7/71/5)

इस ऋचा में भी इनके चमत्कारी कार्यों का बखान है। इन सब कार्यों का ऐतिहासिक आधार क्या है यह कहा नही जा सकता किन्तु इनका जो स्वरूप ब्राह्मणों और भाष्यों मे वर्णित है उससे ऐसा प्रतीत होता है कि सर्वप्रथम अश्विनी कुमारों की अवधारणा उस नक्षत्र के दृश्य स्वरूप को लेकर जन्मी होगी जिसे आज अश्विनी-नक्षत्र कहते हैं। नक्षत्र गणना की एक पद्धति में जो अश्विनी-भरणी, कृत्तिका और रोहिणी से शुरू होती है यह सर्वप्रथम नक्षत्र है। चमकदार अश्व के आकार के दो नक्षत्रो को देखकर ही इस नक्षत्र के अधिष्ठाता देवता के रूप में घुड़सवारों की कल्पना की गई होगी।

यह माना जाता है कि प्राचीनतम विज्ञान खगोल–विज्ञान ही था और भारत मे ऋषियों को नक्षत्रों के विज्ञान ने ही सबसे पहले प्रभावित किया था। इससे भी अनुमान होता है कि सर्वप्रथम अश्विनी नक्षत्र को ही अश्विनो कहा गया होगा। निरुक्त ने इनमे से एक को निशा का पुत्र बताया है तथा दूसरे को उषा का। इनके आगमन का समय उषाकाल तथा सूर्योदय के मध्य बतलाया गया है। इस सब से भी ये अश्विनी नक्षत्र के प्रतीक देवता के रूप में सामने आते हैं। हो सकता है इन नक्षत्रों का मानवीकरण करने की प्रक्रिया मे इन्हे जुड़वां भाइयो का स्वरूप दे दिया गया हो तथा बाद में इनके साथ अनेक गाथाएं भी जुड़ती गई हों। अश्विनी कुमारों के नामो मे नासत्य अर्थात् सत्यभाषी और दस्र अर्थात् विचित्र कार्य करने वाले ये दो नाम इनकी प्रकृति के परिचायक हैं। बाद मे जाकर पुराणकाल मे इनका स्वरूप कुछ परिवर्तित होता है जहां इन्हे विश्वकर्मा की पुत्री अश्विनी मे सूर्य के द्वारा उत्पन्न किये पुत्रो के रूप मे देखा गया है। महाभारत में तो पांडु की पत्नी कुन्ती द्वारा चाहे जाने पर उसके गर्भ में नकुल और सहदेव का आधान कर इन दो

पांडवों को जन्म देने वाले देवताओं के रूप में इन्हें पर्याप्त प्रमुखता दे दी गई। इस दृष्टि से कुन्ती पुत्रों के पिता के रूप मे सूर्य, धर्म, वायु और इन्द्र का जो महत्त्व है उतना ही अश्विनी कुमारों को भी माना गया।

इस पुराणकाल से पूर्व इनके स्वरूप की समीक्षा करने से स्पष्ट होता है कि वेदकाल से ब्राह्मणों और उपनिषदों तक आते-आते इनका स्वरूप अधिक व्यापक होता गया और ये प्रातः काल उदित होने वाले नक्षत्रों से बढ़कर पृथ्वी और आकाश की समन्वित सत्ता अर्थात् द्यावापृथिवी के प्रतीक के रूप में वर्णित किए जाने लगे। आजकल भी पूजा आदि के समय एक मंत्र बहुधा बोला जाता है जिसमें इनका यह स्वरूप स्पष्ट है—

'श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ, अहोरात्रे पार्श्वे नक्षत्राणि रूप, अश्विनौ व्यात्तम्'

इस मंत्र में जिस विराट् पुरुष की कल्पना की गई है उसकी पत्नियां श्री और लक्ष्मी हैं, रात और दिन उसके पसवाड़े हैं, नक्षत्र उसके रूप हैं और अश्विनी कुमार उसकी जमुहाई हैं। जब वह फैल जाता है तो पृथ्वी से लेकर आकाश तक उसी का विस्तार दिखाई देता है। द्यावापृथिवी के रूप में अश्विनी कुमारों के इस प्रतीकात्मक निर्वचन को स्पष्ट करते हुए शत-पथ-ब्राह्मण कहता है—

'इमे ह वै द्यावापृथिवी, प्रत्यक्षमश्विनाविमे हीदं सर्वमाश्नुवाताम्'
(4/1/5/16)

अर्थात् द्यावापृथिवी ही प्रत्यक्ष अश्विनी कुमार हैं जो सर्वव्यापी हैं। इस प्रकार उपनिषदों में अश्विनी कुमारों का वैज्ञानिक स्वरूप पृथ्वी और आकाश का समन्वय करने वाले दिव्य और चमत्कारी देवता का है। इससे पूर्व वेदकाल मे चाहे अश्विनी कुमारी एक प्रमुख एवं चमत्कारी कथाओं के नायक देवता के रूप मे स्थापित हो गये हों किन्तु उनकी मूल अवधारणा आकाश में चमकने वाले दो नक्षत्रों से उद्भूत हुई ऐसा वेद-विद्या के आधुनिक विद्वानों का मानना है। एक विद्वान् श्री दीक्षित की यह मान्यता है कि गुरु और शुक्र के पास-पास देखे जाने वाले तारों के आधार पर ही जुड़वां अश्विनी कुमारों की अवधारणा उत्पन्न हुई होगी जबकि एक अन्य विद्वान प्रातःकाल दिखलाई देने वाले नक्षत्र-पुंज या नीहारिका को अश्विनी कुमारों की कल्पना का आधार मानते हैं। इससे भी यह स्पष्ट होता है कि विद्वानों की दृष्टि में अश्विनी कुमार केवल आख्यानों के देवता नहीं हैं बल्कि किसी वैज्ञानिक तत्त्व के प्रतीक हैं। एक आधुनिक विद्वान ने तो तर्कपूर्वक यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि अश्विनी कुमार विद्युत् के धनात्मक और ऋणात्मक दो छोरों के प्रतीक हैं अर्थात् निगेटिव और पोजिटिव बिजली के

तरह ही वेदों में अश्विनी कुमार कहे गये हैं तभी इनके साथ सद द्वि-वचन मिलता है।

इस विवरण से यह स्पष्ट होता है कि सर्वप्रथम उषःकालीन नक्षत्रों के अधिष्ठाता के रूप में वर्णित ये अश्विनी देवता धीरे-धीरे देवताओं के वैद्य के रूप में स्वास्थ्य, सौन्दर्य, यौवन और सामर्थ्य के देवता माने जाने लगे और वृद्धों को यौवन देने, रोगियों को भला-चंगा करने, नेत्रहीनों को ज्योति देने, प्रेमियों को मिलाने, कन्याओं का विवाह कराने और डूबे हुओं को उबारने जैसे अनेक चमत्कारों के इनके साथ जुड़ जाने के कारण इनका व्यक्तित्व और भी आकर्षक बन गया। किन्तु उपनिषत्काल तक आते आते जब वैदिक देवताओं के दार्शनिक स्वरूप की खोज होने लगी तो इन्हें द्यावापृथिवी का प्रतीक माना जाने लगा और उस सर्वोच्च परम सत्ता की विशालता का बिम्ब इनमें देखा जाने लगा। पुराणकाल में इनका पुनः मानवीकरण कर दिया गया अर्थात् इन्हें उपाख्यानों के नायक आकर्षक देवता और चिरयुवा जुड़वां भाइयों के रूप में अनेक चमत्कारी कार्य करने वाले देव-वैद्य के रूप में चित्रित किया गया और महाभारत के नायक पांडवों में से दो के जनक के रूप में वे विशिष्ट स्थान के अधिकारी बन गये। इस प्रकार अश्विनीकुमारों का स्वरूप वेदकाल से लेकर पुराणकाल तक एक रोचक सतरंगी अध्ययन का विषय है।

—•—

4

लोक-पर्व

- वसन्त-पंचमी
- होली
- विजय-दशमी
- दीपावली
    - (क) वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य
    - (ख) सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य
- रक्षा-बन्धन

वसन्त-पंचमी

वसन्त पंचमी का उत्सव इस देश के प्रत्येक भाग मे किसी न किसी रूप में मनाया जाता है। यद्यपि माघ शुक्ला पंचमी को जब यह त्यौहार मनाया जाता है उस समय वसन्त प्रारम्भ नहीं होता, वसन्त की शुरूआत होली के उत्सव से मानी जाती है तथापि सम्भवत: इसे वसन्त की पूर्व-सूचना देने वाला उत्सव मानकर ही इसका नाम वसन्त पंचमी रखा गया होगा। जिन प्रदेशों में मेष राशि के सूर्य को उच्च का सूर्य माना जाता है (यह समय चैत्र मास में आता है) वहां जब सूर्य मकर राशि से कुम्भ राशि पर आता है (माघ मास मे) तो सर्दी की समाप्ति का सूचक होता है। शायद इसीलिए शिशिर की समाप्ति और वसन्त के प्रारम्भ के प्रतीक के रूप में इसे वसन्त पंचमी कहा गया होगा। वैसे जिन प्रदेशों मे यह उत्सव सबसे अधिक समारोह के साथ मनाया जाता है वहां इसका नाम श्री-पंचमी प्रसिद्ध है। यह उत्सव बंगाल में सरस्वती-पूजा (पुस्तक पूजा) के उत्सव के रूप में मनाया जाता है। वहां यह सार्वजनिक अवकाश का दिन होता है और वागीश्वरी यात्रा के दिन के रूप में घर-घर में मनाया जाता है। उस दिन पढाई-लिखाई नहीं की जाती। हमारा यह विचार है कि यह साहित्य की देवी सरस्वती की पूजा की बजाय संगीत की देवी सरस्वती की पूजा का उत्सव अधिक है। इसका कारण स्पष्ट है। शीत की समाप्ति और वसन्त का प्रारम्भ जिस प्रकार फूलों के खिलने और भौंरों के गूंजने की ऋतु होती है उसी प्रकार संगीत के स्वरों के मुखरित होने की भी ऋतु होती है। इस लिहाज से इस दिन प्रत्येक संगीतकार वीणा-वादिनी सरस्वती की पूजा करता है और संगीत महोत्सव आयोजित किये जाते है।

वसन्त ऋतु की पूर्व सूचना

संस्कृत के सुप्रसिद्ध कवि स्व. कविशिरोमणि भट्ट मथुरानाथ शास्त्री ने जयपुर का सांगोपांग वर्णन करने वाला जो संस्कृत काव्य 'जयपुर वैभवम्' लिखा है उसमें जयपुर के उत्सवों के वर्णन के अध्याय 'उत्सव वीथी' का प्रारम्भ वसन्त पंचमी के वर्णन से ही किया है। इससे भी इसका महत्व प्रकट होता है। किन्तु उन्होंने भी इस वर्णन में सबसे पहले इसके नामकरण पर यह कहकर प्रश्न-चिह्न लगाया कि 'शिशिर ऋतु मे मनाये जाने वाली वसन्त पंचमी आगे आने वाले वसन्त की सूचना

मात्र है अन्यथा वसन्त का इस समय क्या सम्बन्ध ?' उन्होंने इसका वर्णन इस प्रकार किया है।

'वसन्त की सूचना मिलते ही युवक-हृदयों में प्रणय के कोमल भाव जागते हैं, संगीतज्ञों में वसन्त राग मुखरित होता है, सुन्दरियों में गीतियों और केशरिया वस्त्रों की छटा दिखलाई देने लगती है। इस समय से ही फागुनियां गीत शुरू हो जाते हैं। वास्तव में तो वसन्त पंचमी का महत्त्व वसन्त के महत्त्व के कारण ही है। वसन्त ऋतु जिसे ऋतुराज कहा जाता है, इस देश की ही नहीं सारे संसार की सबसे मनोरम ऋतु मानी जाती है। भारतीय साहित्य में तो इस ऋतु के सम्बन्ध में लाखों-करोड़ों पृष्ठ रंगे पड़े हैं। 'स्प्रिंग सीजन' (जो फूलों के खिलने की ऋतु है) पाश्चात्य कवियों की भी प्रिय ऋतु रही है। अप्रेल माह को सभी कवियों ने दिलकश बतलाया है। इंगलैण्ड के प्रसिद्ध कवि राबर्ट ब्राउनिंग अपने प्रवास काल में केवल एक ही टीस अनुभव करते हैं 'ओह टू बी इन इंगलैण्ड नाउ देट अप्रेल इज देयर'—'हाय, इस वक्त मैं इंग्लैण्ड में होता तो क्या ही बात थी, अब जबकि अप्रेल का महीना है।'

संस्कृत-साहित्य में वसंत

वसन्त को ऋतुओं के राजा के रूप में अभिषिक्त करने का सर्वाधिक श्रेय कालिदास को है। उसने भारत की छहों ऋतुओं का ऋतु-संहार काव्य में वर्णन किया है किन्तु इसका प्रारम्भ उसने ग्रीष्म ऋतु से किया है, समाप्ति वसन्त ऋतु से की है। तथापि इस काव्य में उसने वसन्त के बारे में यह कहकर उसका महत्त्व स्पष्ट किया है कि वसन्त में हर चीज अधिक मनोरम लगने लगती है। "पेड़ फूलों के कारण, जल कमलों के कारण, स्त्रियां शृंगार भावनाओं के कारण, पवन सुगन्ध के कारण, शामें आनन्द के कारण और दिन सुखदायक होने के कारण अच्छे लगने लगते हैं।"

> 'द्रुमाः सपुष्पाः सलिलं सपद्मं
> स्त्रियः सकामाः पवनः सगन्धः।
> सुखाः प्रदोषा दिवसाश्च रम्याः
> सर्वं प्रिये चारुतरं वसन्ते।'

'ऋतु संहार' का वसन्त वर्णन तो केवल रीति निभाने की दृष्टि से किया गया लगता है किन्तु वसन्त का सबसे अधिक हृदयावर्जक वर्णन कालिदास के कुमार सम्भव के तीसरे और रघुवंश के नवें सर्ग में है। कुमार-सम्भव में बतलाया गया है कि तारकासुर के संहार के लिए शिवजी का पुत्र ही समर्थ हो सकता था और शिवजी ने तो अखण्ड ब्रह्मचर्य की समाधि ले रखी थी। फिर पुत्र कैसे हो ? इसके लिए देवताओं ने यह जाल बिछाया कि हिमालय की पुत्री पार्वती उनके सामने जाये

और कामदेव उस समय अपना बाण चलाये तो शिवजी पार्वती से अवश्य विवाह कर लेंगे। कामदेव इस संकटमय कर्त्तव्य का निर्वाह करने हेतु केवल एक शर्त पर तैयार होता है, वह यह कि उस समय वसन्त उसके साथ हो। वसन्त तैयार हो जाता है और सारे हिमालय पर अपनी मनमोहक रंगोनी फैला देता है। यहां कालिदास ने कलम तोड दी है। लताएं वृक्षों का आलिंगन करने लगती हैं, भौंरे अपनी प्रियाओं के साथ कलियो के चपको से मधु पीने लगते हैं। मृगों और मृगियों के हृदय प्रणय से सराबोर हो जाते हैं। ऐसे समय में अनिन्द्य सुन्दरी पार्वती को देखकर शिव का हृदय क्यों न विचलित हो जाता?

रीतिकालीन काव्य में वसन्त

संस्कृत काव्यों में वसन्त के प्रतीक के रूप में फूलों का खिलना, नई कोंपलों का निकलना, कोकिल का कूजन और भ्रमरो की झंकार का वर्णन मिलता है। इसी परम्परा को निभाते हुए व्रजभाषा के कवियो ने भी वसन्त का बहुत मनोहारी वर्णन किया है। रीतिकाल का तो कोई भी कवि ऐसा नहीं होगा जिसने जमकर वसन्त का वर्णन न किया हो। जयपुर राज्य के आश्रित दो रीतिकालीन कवि व्रजभाषा कविता में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। ये हैं 'बिहारी' और 'पद्माकर'। दोनों के वसन्त वर्णन अनूठे हैं। बिहारी ने तो वसन्त मे गुलाब के खिलने का जगह-जगह उल्लेख किया है क्योंकि उस समय तक गुलाब की खेती भारत में होने लगी थी और उसकी लोकप्रियता एकदम बढ गई थी। अन्योक्ति के रूप में उसने लिखा है कि बेचारा भौंरा गुलाब की कंटीली झाड़ियों में इसी आशा से अटका रहा कि कभी वसन्त आयेगा और इन डालों पर भी वैसे ही दिलकश फूल खिल उठेंगे।

> 'इहि आसा अटक्यो रह्यो अलि गुलाब के मूल।
> ह्वै हैं बहुरि बसंत ऋतु इन डारन वे फूल।'

पद्माकर का वसन्त वर्णन सर्वाधिक लोकप्रिय है। एक कवित्त में उसने कोने-कोने मे वसन्त के विकास को इस प्रकार बतलाया है:

> "कूलन में केलि में कछारन में कुंजन में
> क्यारिन में कलित कलीन किलकंत है।
> कहैं पद्माकर परागन में पौन हू में
> पातन में पिक में पलासन पगन्त है।
> द्वार मे दिसान में दुनी में देस देसन में
> देखो दीप दीपन में दिपत दिगन्त है।
> बीथिन में व्रज में नवेलिन में बेलिन में
> बनन में बागन में बगर्‌यो बसन्त है।'

रीतिकाल की समाप्ति के बाद आधुनिक युग आते-आते बसन्त का वह महत्व नहीं रहा जो पहले साहित्य में था। उसका वर्णन करना लकीर पीटने वाली और दकियानूस जैसी बात माना जाने लगा। सुभद्रा कुमारी चौहान ने 'वीरों का कैसा हो बसन्त' कविता लिखकर बतलाया कि जब देश पर विपत्ति आ रही हो बसन्त की कविता गाने की बजाय बसन्ती चोला पहनकर रण-मंच पर जूझने के लिए निकल जाना अधिक उचित होता है। आधुनिक कवि के लिए, जो आम आदमी की पीड़ा और संत्रास से परेशान है, रोटी की समस्या का बसन्त की बहार की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण होना स्वाभाविक ही है। फिर भी इस देश की यह ऋतु आज भी मानव पर उसी प्रकार का कोमल प्रभाव डालती है, उसी प्रकार आज भी गायकों के कंठ से वीणा के तारों से बसन्त और बहार राग मुखरित होते हैं और युवक-हृदय नई कोंपलों और खिले हुए फूलों को देखकर उसी प्रकार विभोर हो जाते हैं।

—०—

बसन्त का मलय-पवन :—

इयं संध्या दूरादहमुपगतो हन्त! मलयात्
तवैकान्ते गेहे तरुणि! ननु नेष्यामि रजनीम्।
समीरेणैवोक्ता नवकुसुमिता ह्याम्रलतिका
धुनाना मूर्धानं नहि, नहि, नहीत्येव कुरुते॥

—(प्राचीन कवि के बसन्त वर्णन का एक पद्य जो बनारस में एक चर्चा-गोष्ठी में स्व० रूपनारायण पांडेय द्वारा स्व० राय कृष्णदास को सुनाया गया)

यह संध्या हो गई, दूर मलयाचल से मैं आया हूँ
तरुणि! तुम्हारे घर में रात बिता सकता हूँ क्या?
उस समीर की इस पृच्छा पर नवकुसुमित सहकारलता
अपना सीस हिलाकर मानों कहने लगी कि 'नहीं, नहीं'।

—(स्व० मैथिलीशरण गुप्त के कहने पर उपर्युक्त संस्कृत पद्य का स्व० राय कृष्णदास द्वारा तत्काल किया हुआ हिन्दी अनुवाद)

होली

होली का पर्व इस देश के सर्वाधिक प्राचीन और व्यापक उत्सवों मे से एक है। विद्वानों का मानना है कि दीपावली जैसे अनेक उत्सवों की अपेक्षा वसंत का यह उत्सव कहीं अधिक पुराना है। इसके अतिरिक्त यह उत्सव इस देश के कोने-कोने तक तो फैला हुआ है ही, एक तरह से विश्वजनीन उत्सव भी है। प्रायः सभी देशों मे वसन्त के प्रारम्भ में इस प्रकार के उत्सवों की परम्परा है जिनमे सारी कुंठाओं और संकोचों को भूल कर सभी वर्गों के नर-नारी उन्मुक्त हास-परिहास और स्वच्छन्द विचरण द्वारा आनन्द मनाते हैं। पश्चिमी देशों में "आल फूल्स डे" (जो 'फूल्स डे' के नाम से ज्यादा प्रसिद्ध है और आजकल एक अप्रैल को मनाया जाता है) जैसे अनेक उत्सवों की परम्परा है जिनमें स्वयं मूर्ख बनकर तथा लोगों को मूर्ख बनाकर एक खास तरह का आनन्द लिया जाता है।

भारत मे यह उत्सव वेदकाल से ही किसी न किसी रूप में चला आ रहा है। वेदकालीन यज्ञों में वैश्वदेव नाम का यज्ञ फाल्गुन की पूर्णिमा को किया जाता था जिसमे सभी देवताओ के लिए भोज्य पदार्थ बनाये जाते थे। इसी प्रकार नया धान आने पर उसे पहले आहुति के रूप मे देवताओं को समर्पित कर उसके बाद ही उपयोग में लिये जाने की परम्परा थी। वर्षा मे फसल के समय किये जाने वाले इन यज्ञों को आग्रयण या नवधान्येष्टि कहा जाता था। वेदकालीन यह परम्परा अब तक चली आ रही है। होली की अग्नि में नये धान को भूनने की प्रथा अब भी है। लगता है यह वैदिक परम्परा चाहे किसी न किसी रूप में सदा से चलती रही हो, इस उत्सव का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण पहलू मदनोत्सव या वसंत के प्रारम्भ में खुली उमंगों की अभिव्यक्ति के उत्सव के रूप में मनाये जाने वाला आनन्द बन गया। इस दृष्टि से यह एक बहुत बड़ा ऋतु पर्व है। ऐसा पर्व ज्योतिष शास्त्र के अनुसार वसंत-सम्पात और शरद् सम्पात के समय आता है। वसंत सम्पात (जिसे अंग्रेजी मे वर्नल एक्विनोक्स कहते हैं) तब होता है जब सूर्य विषुवद् रेखा पर होता है अर्थात् रात और दिन बराबर होते हैं। इसी प्रकार शरद् सम्पात में भी रात और दिन बराबर होते हैं। ऐसा लगता है कि मूलतः शरद् सम्पात (जिसे अंग्रेजी में आटम्नल

एक्विनोस कहते हैं।) के अवसर पर मनाये जाने वाले उत्सवों की परम्परा अब दिवाली में समाहित हो गई है और वसंत संपात के उत्सवों की परम्परा होली में।

होली के साथ प्रह्लाद की जो धार्मिक कथा जुड़ गई है उसे विद्वान बहुत बाद की घटना मानते हैं। प्राचीन ग्रन्थों मे इन दिनो मनाये जाने वाले जिन उत्सवों का वर्णन मिलता है वे पूर्णतः नागरिक और सामाजिक उत्सव हैं। वात्स्यायन के कामसूत्र में फाल्गुन मास मे मनाये जाने वाले अनेक वासती उत्सवो का विवरण है। पुष्पावचायिका नामक क्रीड़ा भी इस समय की जाती थी जिसमें पुष्प-क्रीड़ा और नृत्य गीत आदि का रिवाज था। इसी ऋतु में बाहर जाकर पिकनिक मनाने जैसी क्रीड़ाएँ भी की जाती थीं। आज से लगभग दो हजार वर्ष पूर्व हुए 'कामसूत्र'-का वात्स्यायन ने अभ्यूषखादिका नाम की एक ऐसी ही क्रीड़ा का वर्णन किया हैं जिसमें घर से बाहर किसी उद्यान में कडो पर चूरमा या बाटी जैसी चीज़ें बनाई और खाई जाती थीं। सुवसन्तक और मदनोत्सव जैसे वासन्ती उत्सवों का भी कामसूत्र तथा अन्य प्राचीन साहित्य मे उल्लेख है। लगता है सुवसन्तक की परम्परा वसन्त पंचमी के रूप में और मदनोत्सव की परम्परा पूरी तरह होली के उत्सव के रूप मे आज भी अक्षुण्ण चली आ रही है। युवक-युवतियों की स्वच्छन्द रंग-क्रीड़ा के जिस उत्सव का उल्लेख प्राचीन काव्यो मे मिलता है, आज तक इसका वैसा ही रूप चला आ रहा है। साहित्य के लिए ही नही हिन्दी फिल्मों के लिये भी यह उत्सव उन्मुक्त अठखेलियों और हंसी-खुशी का मधुकोष लुटाने वाला एक अटूट खजाना खोल देता है। रंगों के उड़ते बादल और प्रेमियों के उन्मुक्त प्रणय-निवेदन का जो रूप आज की हिन्दी फिल्में होली के बहाने चित्रित करती हैं ठीक वही आज से लगभग डेढ़ दो हजार वर्ष पूर्व लिखे प्राकृत के काव्य ग्रन्थों मे भी मिलता है, यह क्या कम आश्चर्य की बात है ?

शालिवाहन द्वारा सकलित *गाथा सप्तशती* प्राकृत गाथाओं का अनूठा सग्रह है जिसमें जनपदों के निश्छल लोक जीवन और अछूती लोक भावनाओं का अद्भुत रूप से सरस वर्णन मिलता है। ग्रामीण युवक-युवतियों की जो क्रीड़ाएँ मदनोत्सव के अवसर पर इन गाथाओं में वर्णित हैं उनसे इसकी दोनो परम्पराएँ स्पष्ट हो जाती हैं, रंग-क्रीड़ा की यहां तक कि कीचड़ मलने और गुलाल उछालने की उन्मुक्त क्रीड़ाओं की परम्परा तथा शृंगार भावनाओ की खुली अभिव्यक्तियो की परम्परा। एक गाथा में बताया गया है कि मदनोत्सव पर ग्रामीण युवतियो का सर्वोतम आभूषण होता है कुसुंभी (टेसू के) रंग से रंगी हुई उनकी चोलियां। इससे भी स्पष्ट होता है कि होली मदनोत्सव का ही उत्तराधिकारी उत्सव है। एक अन्य गाथा मे एक नवयुवती अपनी सखी से परिहास करती है कि जिस नवयुवक ने तुम्हें कीचड़ का शृंगार

दिया है वह तुम्हारे स्नेह का तो अधिकारी पहले से ह ही हो गया है । इन्हीं गाथाओं की रंग क्रीड़ाओं के वर्णनों का आधार ले कर हिन्दी कवियों ने भी अनेक सुललित पद्य लिखे हैं । एक उदाहरण ही पर्याप्त होगा । गाथा सप्तशती की एक गाथा इस प्रकार है—

आदाय चूर्णमुष्टिं
हर्षौत्सुक्येन वेपमानायाः ।
प्रियमवकिरामि पुर
इति हस्ते गन्धोदकं जातम् ।।

नायिका खड़ी है—होली के दिन नए प्रिय पर छिड़कने को गुलाल उसके हाथ में है । खुशी और उत्सुकता से कांप रही है और सोचती है कि अभी लपक कर प्रियतम पर लपेट दूंगी । पर यह क्या ? उत्सुकता-जन्य स्वेद के कारण गुलाल तो हाथ की हाथ में रंग बन गई ।

इसी का आधार लेकर बिहारी सतसई में महाकवि बिहारी ने भी एक दोहा लिखा है—

मैं लै दयो, लयो सु कर,
छुवत छनक गो नीर ।
लाल ! तिहारो अरगजा
उर ह्वै लग्यो अबीर ।।

विरहिणी नायिका विरह ताप से इतनी जल रही है कि नायक ने जब उसके लिये अरगजा (रंगलेप) भेजा और उसने अपने हाथ से उसे अपने शरीर पर लगाया तो विरह ताप की गर्मी से सारा पानी सूख गया और वह रंग गुलाल बन गया ।

प्रायः प्रत्येक युग की संस्कृत रचनाओं में होली के इस उत्सव की रंग क्रीड़ाओं का वर्णन मिलता है । छठी शताब्दी में हुए हर्षवर्धन सम्राट ने रत्नावली नाम का एक नाटक लिखा है जिसमें होली के समय कौशाम्बी नगर में सार्वजनिक रूप से राज मार्गों पर नागरिकों द्वारा उड़ाई जाने वाली गुलाल और अबीर से सारी दिशाओं के रंग जाने का बहुत सुन्दर वर्णन मिलता है । भवभूति ने अपने नाटक 'मालती माधव' में मदनोत्सव के अवसर पर मालती और माधव के प्रथम मिलन का वर्णन किया है । इस अवसर पर किसी उद्यान में पुष्पों से कामदेव की पूजा की जाती थी और युवक-युवतियां आमोद-प्रमोद में व्यस्त रहते थे ।

परवर्ती साहित्य में भी इस अवसर की उन्मुक्त शृंगार अभिव्यक्ति के संकेत जगह-जगह मिलते हैं । लगता है मानव मन की इस अभिलाषा ने प्रत्येक देश में कोई न कोई ऐसा उत्सव तलाश लिया है जिसमे उन्मुक्त अभिव्यक्ति पर कोई अंकुश

न हो, कोई बन्धन या सामाजिक निषेध न रहे। तभी तो वर्ष भर की कुंठाओं को विरेचित करने के इस उत्सव का कभी-कभी नाजायज फायदा उठाकर लोग शालीनता की सीमा ही तोड़ देते हैं, मारपीट, कीचड उछालने और नशे में धुत होकर गाली-गलौज करने से भी बाज नहीं आते। समय-समय पर ऐसी निरंकुशता को शालीन परम्पराओं में बाँधने के प्रयत्न भी होते रहे हैं।

एक ऐसा प्रयत्न जयपुर की तमाशे की परम्पराओं में भी देखा जा सकता है। ब्रह्मपुरी में छोटे और बड़े अखाडों में होली के दिनों में गत दो तीन शताब्दियों से संगीतमय तमाशों (लोकनाट्य का एक रूप) की परम्परा चली आ रही है जिनमें शृंगार गीतों का राग-रागिनियों में निबद्ध कर गायन किया जाता है। होली के अवसर पर होने के कारण इनके प्रारम्भ में मंगलाचरण के रूप में ऐसी व्यंग्योक्तियां भी गाई जाती थीं, जिन पर विभिन्न देवी-देवताओं पर फब्तियां होती थीं, फिर आयोजक स्वयं अपने ऊपर व्यंग्य-विनोद करते थे और फिर नगर के सभी वर्गों और व्यक्तियों पर व्यंग्य-विनोद की बौछारें की जाती थी। आज भी महामूर्ख सम्मेलनों के रूप में तथा होली की उपाधियां बाँटने के रूप में व्यंग्य-विनोद की ऐसी परम्पराएं देश के सभी प्रान्तों में देखी जा सकती हैं। हर युग के साहित्य में इस उत्सव के वर्णनों और उल्लेखों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वसन्त के दिनों में इस प्रकार की लोक भावनाओं की अभिव्यक्ति एक सार्वकालिक और सार्वदेशिक मानवीय मानसिकता है।

—०—

कौशाम्बी की प्राचीन होली :—

कीर्णैः पिष्टातकौघैः कृतदिवसमुखैः कुंकुमक्षोद-गौरैः
र्हेमालंकारभाभिर्भरनमितशिरः—शेखरैः कैकिरातैः।
एषा वेषाभिलक्ष्य-स्वविभव—विजिताशेष—वित्तेश-कोषा
कौशाम्बी शातकुंभद्रव-खचित-जनेवैकपीता विभाति ॥

—(हर्षवर्धन: 'रत्नावली')

पीली गुलाल उड़ रही है, केसरिया रंग ने संध्या ही मानों उतार दी है, सोने से लदे नागरिकों ने कौशांबी के राजमार्गों को कुबेरपुरी से भी अधिक समृद्ध परिवेश दे दिया है; लगता है चित्रफलक पर स्वर्णरेखाओं से कोई दृश्य उकेर दिया गया हो।

विजय-दशमी

विजय-दशमी फिर आ गई है। चारों ओर रामलीलाओं के आयोजन हो रहे हैं। रामकथा की मन्दाकिनी बच्चे से लेकर बूढ़े तक के मानस को मर्यादा पुरुषोत्तम के चरित्र द्वारा स्थापित मर्यादा के महत्त्व की शीतल लहरों से पुनः नहलाने लगी है। कुछ शताब्दियों से यह परम्परा रही है कि रामलीला आश्विन शुक्ल प्रतिपदा को प्रारम्भ होकर दशमी को समाप्त होती है। इस दिन रावण-वध का दृश्य बताया जाता है और इसी दिन राम का राज्याभिषेक होता है। इस प्रकार विजय-दशमी को रामलीला की इस परम्परा के कारण उत्तर-भारत मे आज रावण पर राम की विजय का पर्व मानकर मनाया जाता है किन्तु किसी भी प्राचीन ग्रन्थ में कहीं इस बात का उल्लेख नहीं मिलता कि इस दिन राम ने रावण का वध किया था। रामायण में भी कहीं ऐसा कोई संकेत नही है। रामायण की एक टीका 'तिलक' का तथा एक अल्पज्ञात उपपुराण कालिकापुराण' का आधार लेकर यह मान्यता पनपी है।

प्राचीन पुराणों और विभिन्न रामायणों में इस बात की बड़ी खोज हुई है कि राम ने किस दिन रावण को मारा, किस दिन विभीषण का राज्याभिषेक हुआ, किस दिन राम का और इस सबमें कितने दिन लगे। 'अग्निवेश रामायण'प्रमुखतः इसी उद्देश्य को लेकर लिखी गई है। इसमे यह स्पष्ट किया गया है कि राम ने पौष मास के आसपास लंका पर चढ़ाई शुरू की, रावण का वध चैत्र मास मे हुआ, तब विभीषण का राज्याभिषेक हुआ, फिर अयोध्या लौटने पर राम का। लगभग यही तिथियाँ (कुछ गणना के अन्तर से) स्कन्दपुराण, पद्मपुराण आदि प्राचीन पुराणों में उल्लिखित हैं। उत्तर-भारत के जिन प्रदेशों में रामलीलाओं की परम्परा है वह प्रमुखतः तुलसी के रामचरित-मानस पर आधारित है और मानस के प्रणयन के बाद गत 400 वर्षों में पनपी है। इन प्रदेशों में विजय-दशमी पर राम के राज्याभिषेक और रावण के पुतले जलाने की जो धूम रहती है उसके नीचे इस पर्व की अन्य परम्पराएँ दब-सी गई हैं पर पूर्वी-भारत मे, विशेषकर बंगाल में आज तक इस अवसर पर वर्षभर का जो सबसे बड़ा त्यौहार मनाया जाता है वह दुर्गा-पूजा पर्व

है। यह परम्परा अपेक्षाकृत अधिक प्राचीन जान पड़ती है। वैसे यह परम्परा मानवता के शत्रुओं पर मानवीय शक्ति की विजय का प्रतीक है; जिस दिन क्रूरता, दुर्भावना, दुराचरण और अन्याय के महिषासुर को मानवता की सम्मिलित शक्ति और अदम्य साहस की प्रतीक दुर्गा मार गिराती है, जो देवताओं की संगठित शक्ति का मूर्तिमान स्वरूप है, अन्याय और अनाचार के दमन के लिए देवताओं के संगठित संकल्प के फलस्वरूप एक-एक देवता ने जिसका एक-एक अंग उत्पन्न किया था। मैसूर में भी विजय-दशमी के दिन वहा के नरेश चामुण्डा देवी के सम्मुख बहुत-बड़े जुलूस के साथ जाते हैं, पूजा और बलिदान करते हैं। इस प्रकार दक्षिण और पूर्वी भारत में इसे सगठित शक्ति और विजय के प्रतीक के रूप में मनाया जाता है।

प्राचीन परम्पराएं :

प्राचीन ग्रथो मे विजय-दशमी, विजय-यात्रा के दिन के रूप में उल्लिखित है। प्राचीन भारत मे यात्राओं के प्रभूत साधन सुलभ नही होने के कारण वर्षा के चातुर्मास्य में आषाढ से भाद्रपद तक यात्राएं निषिद्ध होती थी। उस अवधि में सैनिक अभियान भी नहीं किए जाते थे। अतः चाहे राजा हो, संन्यासी हो या गृहस्थ हो, घर पर ठहरकर ही आगे की तैयारी करने में चार मास बिताते थे। इनकी समाप्ति पर विजय-यात्रा के लिए प्रस्थान किया जाता था। इसीलिए विजय-दशमी यात्रा के सर्वोत्तम मुहूर्त के रूप मे प्राचीन ग्रथों मे उल्लिखित है। अभिषेक के बाद राजा दिग्विजय आदि के लिये प्रस्थान किया करते थे।

इस दिन 'सीमा-पूजन' का विशेष महत्व बतलाया गया है, जब शासकों और क्षत्रियों द्वारा शस्त्रास्त्रो का पूजन कर अपनी शक्ति का सिंहावलोकन किया जाता था और सीमाओ के बाहर की यात्राएं प्रारम्भ की जाती थी। इस दिन अपने-अपने राज्य की सीमा लांघकर वहां अपराजिता देवी के पूजन का विधान स्पष्टतः इस बात का प्रतीक है कि मानव मे साहस की भावनाओ तथा अपराजेय शक्ति के उन्मेष की अभिव्यक्ति के रूप मे यह पर्व मनाया जाता था। शरद् ऋतु को इसी कारण अदम्य उत्साह का प्रतीक माना जाता है। यह पर्व इसीलिए दूर देशों की यात्राओ और दुर्दान्त शत्रुओं पर विजय की लालसा का प्रतीक है। जैसे होली उमग और उल्लास की अभिव्यक्ति करती है उसी तरह विजय-दशमी साहसिक कार्यों की ललक का प्रतीक है। सभवतः इसीलिए अयोध्या के राम की लका जैसे दूर देश पर चढ़ाई और मर्यादा एव शील के राम की अनाचार और अन्याय के रावण पर विजय को भी इसी पर्व के साथ जोड़ दिया गया।

—०—

दीपावली

(क) वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य :

भारतीय उत्सवों की परम्परा को यदि समाज-वैज्ञानिक और व्यावहारिक परिप्रेक्ष्य में परखा जाए तो यह स्पष्ट होगा कि चाहे इन उत्सवों के साथ धार्मिक परम्पराएं जोड़ दी गई हों या किसी देवी-देवता का नाम जुड़ गया हो, मूलतः उनका समाजशास्त्रीय महत्त्व ही प्रधान पक्ष है। आज उत्तर और पश्चिम भारत में दीपावली और होली जिस रूप में मनाये जाते हैं उनके साथ भी यही दृष्टिकोण खरा उतरता है। ये दोनों महोत्सव मूलतः कृषि-प्रधान समाज-व्यवस्था के अन्तर्गत दो महत्वपूर्ण कालबिन्दुओं पर मनाये जाने वाले धान्योत्सवों के रूप में विकसित हुए थे। वसन्त के समय जब जाड़े की फसल पकती है, होली मनाई जाती है। आज तक होली की आग में भूने जाने वाले धान्य के रूप में इसके चिह्न पाये जाते हैं। इसी प्रकार बरसाती फसल के पकने के साथ अनेक शरत्कालीन उत्सवों की पुरानी परम्परा है। धान्य और कृषि की समृद्धि से उल्लसित होकर उत्सव मनाने वाले भारतीय समाज ने अपने सारे उत्सवों की परम्परा को सम्भवतः इसी ऋतु चक्र में समायोजित किया है। दीपावली के दूसरे दिन 'अन्नकूट' द्वारा धान्यों के ढेर लगाना भी इसी का चिह्न है।

यही कारण है कि उत्तर भारत के उत्सव होली से आरम्भ होते हैं और दीपावली पर समाप्त हो जाते हैं। होली से दीपावली तक अनेक उत्सव मनाये जाते हैं। इस संस्कृति के प्रसार का प्रमुख क्षेत्र शीतप्रधान था इसलिए प्राचीन आर्यों के उत्सव वसन्त के साथ आरम्भ होते थे—और शरद् के साथ समाप्त हो जाते थे। भारत के प्राचीन ग्रंथों-काव्यों में भी मदनोत्सव (होली) और कौमुदी महोत्सव (शरत्पूर्णिमा) दोनों बहुत बड़े सार्वजनिक उत्सवों के रूप में वर्णित हैं। आज का दीपोत्सव कौमुदी महोत्सव के उत्तराधिकारी के रूप में ही अवतरित हुआ था। ऋतुचक्र की दृष्टि से भी भारत के उत्तरी, पश्चिमी और पूर्वी भागों में वसन्त और शरद्-ये दोनों ऋतुएं ही सर्वाधिक मनोरम, आनन्ददायक और उल्लासकारी होती हैं। तापमान की चरम स्थितियों के कारण ग्रीष्म और शिशिर दोनों ऋतुएं असहनीय

होती हैं । ज्योतिष के अनुसार वसन्तोत्सव के समय 'वसन्त सम्पात' (वर्नल एक्विनोक्स) होती है । इस समय सूर्य विषुवत् रेखा पर होता है फिर वह उत्तर की ओर जाने लगता है जिसके फलस्वरूप विषुवत् रेखा के उत्तरी भागों में शीत की तीव्रता समाप्त हो जाती है । इसी प्रकार कौमुदी महोत्सव के समय शरत्-सम्पात (आटम्नल एक्विनोक्स) होगा । इस समय भी सूर्य विषुवत् रेखा पर होता है इसके बाद वह दक्षिण की ओर जाने लगता है जिसके फलस्वरूप विषुवत् रेखा के उत्तरी भाग में शीत बहुत तीव्र हो जाता है । उक्त भौगोलिक स्थिति के अनुरूप बहुत प्राचीन काल में दीपावली के समय तक आते-आते अधिक शीत हो जाने के कारण उत्सवों के विधान समाप्तप्राय हो जाते हैं । बाद में जब आर्य उष्ण कटिबन्ध की ओर जाने लगे तभी दीपावली के दिनों में उसी प्रकार विशाल पैमाने पर उत्सवों का आयोजन होने लगा जैसा कि पहले कौमुदी महोत्सव के दिनों में हुआ करता था । इस प्रकार एक तरह से दीपावली कौमुदी महोत्सव की उत्तराधिकारिणी है ।

क्या दीपावली लक्ष्मी जयन्ती है ?

एक मान्यता के अनुसार दीपावली 'लक्ष्मी जयन्ती' अर्थात् लक्ष्मी के जन्मदिन के रूप में मनाई जाती है । निश्चित ही यह कल्पना अर्वाचीन है क्योंकि प्राचीन देवताओं की जयन्ती या जन्मदिन की अवधारणा वैदिक काल में नहीं थी । लक्ष्मी एक वैदिक देवता है जो मूलत: भूदेवी या पृथ्वी का प्रतीक थी । इन्द्र और वरुण आदि वैदिक देवों की जयन्ती जिस प्रकार नहीं मनाई जाती उसी प्रकार लक्ष्मी के भी जन्मदिन का प्रश्न नहीं उठता । किन्तु बाद के समय में इस दिन लक्ष्मी के जन्म होने की कल्पना विकसित हुई हो सकती है । इसके आधार क्या रहे होंगे, इस पर विचार किया जाए तो कार्तिक कृष्ण अमावास्या की रात्रि को लक्ष्मी की उत्पत्ति की कल्पना के मूल में निम्नलिखित वैज्ञानिक तथ्य विचारणीय है ।

लक्ष्मी, चन्द्रमा आदि चतुर्दश रत्न समुद्र मन्थन से उत्पन्न हुए ऐसा माना जाता है । समुद्र मन्थन की तिथि क्या रही होगी इसका उल्लेख नहीं मिलता । किन्तु यह वैज्ञानिक तथ्य है कि कार्तिक कृष्ण अमावास्या के दिन आने वाला ज्वार वर्ष भर के सबसे बड़े ज्वारों में से एक है । सबसे बड़े ज्वार तब आते हैं जब चन्द्रमा अपने क्रान्तिवृत्त के ऐसे बिन्दु पर होता है जो पृथ्वी के सबसे निकट हो । इसे चन्द्र की निकटतमता (द पेरिजी आव द मून) कहते हैं । यह पेरिजी हमेशा सम्पातों (एक्विनोक्स) के समय आती है । ऐसे दिनों में जब सूर्य विषुवत् रेखा पर होता है, अर्थात् वर्ष में दो बार-मार्च और सितम्बर में-ये ज्वार आते हैं । ज्वार दो तरह के होते हैं—ऊंचे ज्वार 'स्प्रिंग टाइड' और नीचे ज्वार (नीप टाइड) । इनमें ऊँचे ज्वार (स्प्रिंग टाइड्स) भयंकर होते हैं । ये अमावास्या को आते हैं । उस

दिन सूर्य और चन्द्र दोनों पृथ्वी से एक दिशा में होते है। इन दोनों की सम्मिलित आकर्षणशक्ति समुद्र के जल को खींचती है इसलिए ज्वार उठता है। ये स्प्रिंग टाइड चन्द्रमा की निकटतम अवस्था मे दो बार आते हैं—आश्विन अमावस्या को और कातिक अमावास्या को। इसलिए कार्तिक कृष्णा अमावास्या को आने वाला ज्वार वर्ष भर के भयकर ज्वारों मे से एक होता हैं। इस समय विशाल समुद्र के जल का विक्षुब्ध होना, कोलाहल सहित लहरो का उत्थान-पतन समुद्र मन्थन का ही दृश्य उपस्थित करते हैं। सम्भव है, हमारे पौराणिक युग मे समुद्र मंथन की कल्पना उन्हीं भयंकर ज्वारों को देखकर की गई हो। रूपकप्रिय वैदिक ऋषियों और पुराणकारों ने इसी रूपक को लेकर सूर्य आदि देवताओ द्वारा मथे जाने वाले समुद्र की कल्पना की हो और इस समुद्र मन्थन के दूसरे ही दिन निकलने वाले चन्द्रमा को (जो कार्तिक शुक्ला द्वितीया को निकलता है) समुद्र मन्थन से उत्पन्न माना हो यह स्वाभाविक है। चन्द्रमा की बहिन लक्ष्मी ('पृथ्वी का प्रतीक') समुद्र मन्थन से उत्पन्न हुई मानी जाती है। इसलिए कार्तिक कृष्णा अमावास्या को लक्ष्मी जयन्ती मानना भी इसी दृष्टि से सुसंगत लगता है। इस प्रकार समुद्र मन्थन और लक्ष्मी की उत्पत्ति की अवधारणा के मूल मे ज्वार के भौगोलिक तथ्य का होना बहुत सम्भव लगता है। समुद्रपारीय वाणिज्य के फलस्वरूप भारत मे लक्ष्मी की उत्पत्ति भी एक सुविदित तथ्य है।

पुराणो में लक्ष्मी पूजा के अलावा दीपावली के दिन दीपक जलाने का जो विधान मिलता है उसका भी एक समाज वैज्ञानिक पक्ष उन्होंने स्पष्ट किया है। जिस प्रकार बरसात मे आई अस्वच्छता को दूर कर सफाई और घरों की लिपाई-पुताई का विधान मिलता है उसी प्रकार न केवल घरों में बल्कि देवालयों में 'दीपवृक्ष' समर्पित करने तथा बाजारो और सार्वजनिक स्थानों में दीपपंक्ति रखने के विधान का स्पष्ट आशय यही है कि गृहस्वामी अपने घर को प्रकाश से जगमगाने से भी अधिक महत्व सार्वजनिक स्थानों पर प्रकाश करने को दे। यमत्रयोदशी से लेकर दीवाली तक चौराहों, गलियों और रास्तो मे दीप जलाने को विशेष महत्त्व दिया जाता है। राजस्थान में तो ऐसी भी मान्यता है कि नालो-परनालो मे भी दीपक जलाये रखना चाहिए क्योंकि लक्ष्मी वहीं से होकर आती है। सामान्यतः व्यक्ति जिन स्थानों पर दीपक नहीं जलाता, वहां भी इस दिन दिये जलाये जाएं, यही इस परम्परा का उद्देश्य प्रतीत होता है।

उत्सव परम्परा

दीपावली की उत्सव परम्परा कार्तिक कृष्णा द्वादशी से ही शुरू हो जाती है जिसे 'गोवत्स द्वादशी' कहा जाता है। इससे भी इस उत्सव चक्र के कृषि-आधारित होने

का संकेत मिलता है। गोवत्स द्वादशी को गाय बछड़ों की पूजा होती है जो गोधन के महत्व का प्रतीक है। दूसरे दिन यमत्रयोदशी मनाई जाती है। इस दिन यमराज के लिए आधी रात के समय चौराहों पर दीप समर्पित किये जाते हैं और मृत्यु के देवता यमराज से अकाल मृत्यु के निवारण के लिए प्रार्थना की जाती है। सम्भवतः यह प्रथा आगामी शीतकाल की भीषणता से संघर्ष और उस पर विजय प्राप्त करने की कामना की प्रतीक है। दूसरे दिन नरक चतुर्दशी को वर्षा ऋतु के द्वारा लाई गई अस्वच्छता का घरो से निर्वासन करने हेतु जिस प्रकार सफाई और लिपाई-पुताई विहित है उसी प्रकार शारीरिक अस्वच्छता का सम्मार्जन भी उल्लिखित है जिससे दूसरे दिन लक्ष्मी-पूजा के समय चारों ओर स्वच्छता और सौन्दर्य दिखलाई दे। शीत ऋतु के आगमन पर शरीर पर अभ्यंग (मालिश) और गर्म जल से स्नान का आरम्भ भी इसी दिन से पुराणों मे वर्णित है। अन्य प्रकार के शरीर-स्वच्छकारी पदार्थों (जैसे अपामार्ग) का उपयोग भी बतलाया गया है।

दीपावली के दूसरे दिन तीन उत्सव होते हैं। श्रीकृष्ण द्वारा इन्द्र की पूजा की सामन्ती परम्परा के विरुद्ध स्थानीय गोवर्धन पर्वत की पूजा की कृषकोचित परम्परा की स्थापना की स्मृति मे गोवर्धन की पूजा तथा गाय-बछड़ो की पूजा की जाती है। मन्दिरों मे विभिन्न पकवानो का भोग लगाकर 'अन्नकूट' मनाया जाता है। इसी दिन राजा बलि की पूजा की जाती है जिन्होंने समस्त त्रैलोक्य का विजय किया था और बाद मे वामन स्वरूप विष्णु को उसका दान कर दिया था। इस दिन किसी सार्वजनिक मार्ग पर ऊँची वन्दनवार बांधकर उसके नीचे से गुजरने की एक प्रथा मार्गपाली के नाम से प्रचलित हैं। इस अवसर पर सामन्त लोग तथा सामान्य जन एकत्र होते थे और 'रस्साकशी' जैसा कोई खेल होता था जिसका विस्तृत वर्णन पुराणो मे मिलता है। इसमे एक ओर सामन्त होते थे, दूसरी ओर जनसाधारण। सामान्य जनो की यदि इसमे जीत होती थी तो उसे शुभ शकुन माना जाता था और इसे राज्य की वर्षभर समृद्धि का प्रतीक माना जाता था। इसी का एक अन्य स्वरूप महाराष्ट्र में विकसित हुआ जिसमें 'गोविन्दा आला रे' गाते हुए सामान्यजन सार्वजनिक मार्ग में बहुत ऊंचाई पर लटकी मटकी को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं और उसे चढ़कर जीत लेने वाले व्यक्ति का सम्मान किया जाता है। इस दिन वरिष्ठ मित्रो और उच्चाधिकारियों को शुभ कामनाएं समर्पित करने जाने की परम्परा सम्भवतः सामन्तों और सामान्य जनो के उसी मध्यकालीन संगम से बनी है जो 'मार्गपाली' के नाम से पुराणों में अभिहित मिलता है। इसके दूसरे दिन 'यमद्वितीया' होती है। ऐसा माना जाता है कि इस दिन यमराज अपनी बहिन यमुना के यहां आये थे और भोजन किया था। इसी आधार पर इस दिन बहिनें

भाई को बुलाती हैं और भोजन कराती हैं। इस प्रकार भाई दूज के साथ इस उत्सव परम्परा की समाप्ति होती है।

(ख) सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य

दीपावली इस देश के बहुत बड़े भूभाग मे वर्ष भर के प्रमुख उत्सव के रूप मे वर्षो से मनाई जाती है। आज इसका जो रूप है वह कितना प्राचीन है इस पर विद्वानों ने बहुत अनुसन्धान किये हैं। पूना के भाण्डारकर शोध संस्थान के भूतपूर्व अध्यक्ष पी०के० गोड़े आदि विद्वानों ने इस पर्व के इतिहास पर शोध करके स्पष्ट किया था कि इसका वर्तमान स्वरूप तथा अमावस्या को दीपोत्सव मनाने की परम्परा बहुत पुरानी नहीं है किन्तु इस उत्सव की समस्त परम्पराएँ किसी न किसी रूप में हजारों वर्षों से चली आ रही हैं, चाहे उनकी तिथियां अलग-अलग रही हों। कुछ शताब्दियो पूर्व उन सारी परम्पराओ के एक दिन समायोजित हो जाने पर इस महोत्सव को यह आकार मिला होगा। इस उत्सव मे धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक, अनेक- परम्पराएँ समन्वित हो गई हैं। मूलतः वर्ष भर के दोनों प्रमुख उत्सव—दीपावली और होली—प्राचीन भारत में धान्योत्सव रहे होंगे। होली पर शीतकालीन फसल कटती है और दीवाली से पूर्व वर्षाकालीन फसल। इन अवसरों पर नवधान्येष्टि नामक यज्ञ हुआ करता था जिसमे नये धान की आहुति दी जाती थी। ऋतु परिवर्तन के इन उत्सवो के साथ अनेक धार्मिक परम्पराएँ जुड़ती गईं। दीवाली वर्तमान मे दीपोत्सव के रूप मे एक सामाजिक उत्सव और आलोक पर्व तो है ही, इसका धार्मिक आयाम भी लक्ष्मी पूजन के रूप में इसका एक महत्वपूर्ण पक्ष बन गया।

लक्ष्मी का स्वरूप : पूजन

लक्ष्मी वेदकाल की श्रीदेवी है जो हजारों वर्षों से समृद्धि की देवी के रूप में वंदित है। वास्तव में पूर्व वैदिक काल मे श्रीदेवी की अवधारणा पृथ्वी (भू देवी) को मूर्त रूप देते हुए देवी के रूप में की गई थी। प्राचीन वाङ्मय में ब्रह्माण्ड विद्या (कॉस्मोलोजी) के विवेचको ने भुवनकोष की कल्पना एक पद्म के रूप में की थी। इसी पद्म पर प्रतीकात्मक रूप से वेद के ऋषि ने सुनहले आलोक से मंडित भूदेवी को श्री देवी के रूप में देखा था जिसे 4 श्वेत हाथी नहला रहे है। यह हाथी कौन है? आकाश में झूमते नीर भरे गदराये हुए बादल ही वे गजराज हैं जो निरन्तर अमृत वर्षा कर इस भूदेवी को नहलाते रहते है। तभी तो धान्य और वनस्पति की अटूट समृद्धि जन्म लेती है। यह समृद्धि इसी पर्जन्य और भूदेवी का ही तो वरदान है। दीपावली के दूसरे दिन अन्नकूट के उत्सव में धान्य की इसी समृद्धि की पूजा की जाती है। लक्ष्मी इस समृद्धि की अधिष्ठात्री देवी है। यही है

पद्म पर बैठी लक्ष्मी का रहस्य जिसकी वंदना ऋग्वेद के श्री सूक्त ने की है। बाद में शाक्त तन्त्र ने जब विविध रूपों में शक्ति की उपासना प्रारम्भ की तो संहार से लेकर सृष्टि तक के रहस्यों को देवियों का रूप दिया गया। संहार क्रम से सृष्टि की उत्पत्ति, पालना और उत्कर्ष की तीन शक्तियां बताई गई। संहार की देवी महाकाली, प्रतिपालन की देवी महालक्ष्मी और उत्कर्ष की देवी महासरस्वती।

सहार क्रम से सृष्टि की ओर जाते हुए संहार के समय के अविभाजित और अपरिगणित स्थिर काल को महाकाल कहा गया जिसकी शक्ति महाकाली काले रंग की, सृष्टि से पूर्व की आद्या शक्ति मानी गई। बंगाल मे दीपावली की अर्द्धरात्रि को इसी महाकाली की पूजा की जाती है। सृष्टि के बाद परिपालन का कार्य विष्णु की शक्ति महालक्ष्मी करती है जो कांचनवर्णा मानी गई है। उसके अन्तर वाक् अथवा विवेक के प्रकाश को जगाने वाली शक्ति आती है जो ब्रह्मा की शक्ति महासरस्वती के रूप मे श्वेत वर्ण की मानी गई है। महेश, विष्णु, ब्रह्मा की शक्ति रूपा इन तीनों देवियों मे परिपालन की शक्ति महालक्ष्मी को अधिक महत्त्व मिलने का कारण स्पष्ट हो जाता है। इस लक्ष्मी की पूजा आश्विन मास मे करने की परम्परा बहुत पुरानी है। तान्त्रिक रहस्यवाद ने भी जब दस महाविद्याओं की आराधना शुरू की तो सम्पत्ति की देवी कमला (लक्ष्मी) को भी महाविद्याओं मे गिना गया और दारिद्रय की देवी धूमावती को भी। कहने की आवश्यकता नहीं कि अर्थ काम प्रधान युगों में किसकी आराधना अधिक प्रचलित हो सकती थी। वही हुआ भी।

वेदकाल की श्रीदेवी और तांत्रिक महालक्ष्मी की पूजा की यह परम्परा शताब्दियों से चलती आ रही थी। उधर आश्विन पूर्णिमा को, जो शरद पूर्णिमा कहलाती है कौमुदी महोत्सव नामक एक लोकोत्सव मनाया जाता था जिसने दीपोत्सव का रूप ले रखा था। चन्द्रगुप्त मौर्य के समय मनाये गये कौमुदी महोत्सव का उल्लेख साहित्य मे प्रचुर मात्रा में मिलता है। इस लोकोत्सव के 15 दिन बाद अमावस्या को यक्ष रात्रि या सुखरात्रि के नाम से एक अन्य लोकोत्सव मनाया जाता था जिसमे रातभर गीत वाद्य और द्यूतक्रीड़ा आदि की सामाजिक गोष्ठियां चलती थी। कामसूत्र आदि ग्रन्थों मे इस उत्सव का उल्लेख है। ऐसा माना जाता है कि 11वी सदी के आसपास कौमुदी महोत्सव (दीपोत्सव) को 15 दिन बाद होने वाले इस उत्सव के साथ जोड़ दिया गया होगा जिससे दीपावली का वर्तमान स्वरूप विकसित हुआ। तभी 11वी सदी मे भारत में आये यात्री अलबरूनी ने कार्तिक मास की प्रतिपदा को यहाँ धूमधाम से दीपोत्सव मनाये जाने का उल्लेख किया है। आकाश भैरव कल्प मे, जो 15वी सदी में विजयनगर साम्राज्य मे लिखा गया तंत्र

का ग्रंथ है, ऐसे ही दीपोत्सव का वर्णन है जिससे स्पष्ट होता है कि इस उत्सव को दक्षिण भारत मे भी मनाया जाता था।

वर्षा ऋतु के बाद शरद के स्वागत का यह लोकोत्सव लक्ष्मी पूजन की धार्मिक परम्परा से भी आज से लगभग एक हजार वर्ष पूर्व ही जुड़ गया था और इस प्रकार आलोक पर्व के रूप मे, ऋतु महोत्सव के रूप मे तथा लक्ष्मी की आराधना के उत्सव के रूप मे 11वी सदी के बाद यह वर्ष का प्रमुख उत्सव बन गया। एक परम्परा के अनुसार इस दिन लक्ष्मी पूजा इसलिये की जाती है कि यह लक्ष्मी जयंती है। वैदिक श्रीदेवी की जन्मतिथि का तो प्रश्न नही उठता था क्योंकि वह अनादि देवी है, किन्तु पौराणिक काल मे जो कथायें जुडी उनमें यह बताया गया कि एक बार इन्द्र के अपमान से कुपित दुर्वासा के शाप से लक्ष्मी तीनो लोको से लुप्त हो गई। शाप के निराकरण का उपाय ऋषि ने यह बताया कि यदि देवता समुद्र का मंथन करेंगे तो उससे लक्ष्मी पुन: प्रकट होगी। जब देवो और दानवों ने समुद्र का मथन किया तब 14 रत्न उसमे से निकले। इन रत्नो मे एक लक्ष्मी थी एक चन्द्रमा, कहते हैं कि उस दिन यही अमावस्या थी। यह प्रतीक कथा सम्भवत: इस आधार पर विकसित हुई हो कि कार्तिक की अमावस्या (जो अमान्त मास मानने वालों के अनुसार आश्विन की अमावस्या है) को समुद्र में उठने वाले भयंकर ज्वार वर्ष के सबसे बड़े ज्वार माने जाते हैं जिन्हें स्प्रिंग टाइड कहा जाता है। सूर्य आदि देवताओ के आकर्षण से उपजे इन ज्वारों को देखकर आदिम ऋषि ने देवों द्वारा समुद्र मंथन की कल्पना की हो यह सम्भव है। इसके दूसरे दिन द्वितीया का चन्द्रमा उदित होता है जिसे समुद्र मंथन से उत्पन्न बताया गया है। वैसे भी समुद्र पार तक वाणिज्य फैलाये बिना लक्ष्मी किसी भी देश मे नही आती। समुद्र मंथन से लक्ष्मी के प्रकट होने का यह रहस्य हो सकता है।

उत्सव शृंखला

इस प्रकार शरद के इस उत्सव में धान्योत्सव और आलोक पर्व का रूप इसे लोकोत्सव बनाता है और लक्ष्मी पूजा उसे धार्मिक गरिमा देती है। 15वी सदी से लेकर आज तक के ग्रन्थों मे इसका यही रूप उल्लिखित है जो देखने को मिलता है। पुराणो मे दीपोत्सव का जो विधान है उसमें सार्वजनिक स्थानों पर प्रकाश-व्यवस्था का दायित्व समाज के प्रत्येक वर्ग को धार्मिक परम्परा के रूप में दिया हुआ मिलता है। अमावस्या की रात्रि को लक्ष्मी मृत्यु लोक में आती है अतः उसके स्वागत में सभी स्थानों पर दीप वृक्ष लगाना प्रत्येक गृहस्थ का कर्त्तव्य बताया गया है। इन स्थानों की सूची गिनाते हुए चौराहा, श्मशान, गलियां, पर्वत की टेकरी, नदी तट और देव मन्दिर आदि का उल्लेख इसी का सूचक है कि उन स्थानों को

भी आलोकित किया जाय जो किसी के नहीं है किन्तु सब के हैं। घरों में भी परनालों और शौचालयों मे विशेष रूप से दीपक रखे जाते हैं जहां सामान्यतः और दिनों में प्रकाश नहीं पहुंचता।

जैन परम्परा मे महावीर निर्वाण का दिन होने के कारण दीपावली को एक अन्य प्रकार का महत्त्व भी प्राप्त है। कल्प सूत्र मे कहा गया है, "वीर निर्वाण के साथ जो अन्तर्ज्योति सदा के लिए बुझ गई उसकी क्षतिपूर्ति के लिए, आओ हम सब बहिर्ज्योति के प्रतीक दीपक जलायें।" इस आलोक पर्व की उत्सव शृंखला का प्रारम्भ त्रयोदशी से ही हो जाता है जिस दिन अर्ध रात्रि को यमराज के लिये चौराहों पर दीपक रखकर अकाल मृत्यु के निवारण की प्रार्थना की जाती है। इसीलिए इसे यमत्रयोदशी कहा जाता है। दूसरे दिन नरक चतुर्दशी को स्वच्छता और सौन्दर्य के लिए अभ्यग (मालिश) और गर्म जल से स्नान का आरम्भ विहित है। इस दिन भी दीपदान किया जाता है। दीपावली के दूसरे दिन तीन उत्सव बताये गये है। श्रीकृष्ण द्वारा इन्द्र की पूजा की सामन्ती परम्परा के विरोध मे स्थानीय गोवर्धन पर्वत की पूजा की कृषकोचित परम्परा की स्थापना की याद मे गोवर्धन पूजा तथा गाय बछड़ो की पूजा की जाती है। मन्दिरों में अन्नकूट का भोग लगाया जाता है। इस दिन राजा बलि की पूजा भी की जाती है जो पौराणिक परम्परा है। पौराणिक मान्यता के अनुसार समस्त त्रिलोकी का वामन अवतारधारी विष्णु को दान करके चले जाने के बाद केवल इसी दिन वे पृथ्वी पर एक दिन के लिए आते हैं। उनके सम्मानार्थ भी दीपक जलाये जाते हैं। इसी दिन मार्गों पर वन्दनवार सजाने हेतु मार्गपाली की परम्परा भी है। इस अवसर पर यह विधान भी है कि किसी सार्वजनिक स्थान मे शासक और जनसाधारण एकत्रित होते थे और रस्साकशी जैसा एक खेल आयोजित किया जाता था उसमें एक ओर राजवर्गीय लोग लग जाते थे, दूसरी ओर जनसाधारण। जनसाधारण की जीत होने पर उसे शुभ शकुन माना जाता था और वर्ष भर राज्य की समृद्धि का प्रतीक माना जाता था। मार्गपाली की पौराणिक परम्परा के प्रतीक के रूप में आज भी महाराष्ट्र में "गोविन्दा आला रे" गाते हुए सार्वजनिक स्थानों से ऊंचाई पर लटकी मटकी को प्राप्त करने की प्रतियोगिता की लोक परम्परा चल रही है और राजस्थान में इस दिन परस्पर शुभकामनाओं के आदान-प्रदान की और मिलने जाने की परम्परा है। इसके दूसरे दिन यमद्वितीया को यमराज के अपनी बहिन यमुना के घर आकर भोजन करने के प्रतीक के रूप में भाई बहिनों के घर जाकर भोजन करते हैं। इसीलिए इसे भ्रातृद्वितीया भी कहा जाता है। इस प्रकार त्रयोदशी से लेकर द्वितीया तक दीपोत्सव का उत्सव चक्र पांच दिन में पूरा होता है।

—o—

रक्षाबंधन

आजकल तो उत्तर भारत में श्रावण की पूर्णिमा का पर्व प्रमुखतः भाई बहिन के स्नेह बन्धन का त्यौहार बनकर रह गया है किन्तु प्राचीन काल से लेकर अब तक यह पर्व अनेक सांस्कृतिक परम्पराओं का त्रिवेणी संगम रहा है। प्राचीन इतिहास से भी कोई उल्लेख नहीं मिलता कि इस दिन भाई बहिन के रक्षा बन्धन का पर्व मनाया जाता हो। उत्तर वैदिक काल में यह दिन वेद पाठ का सत्र प्रारम्भ करने का दिन था। आज तक उस परम्परा को श्रावणी के रूप में मनाया जाता है। इसका उद्गम सम्भवतः इस प्रकार हुआ कि प्राचीन समय में वर्षा काल मे यातायात के उन्नत साधनों के अभाव मे यात्राएँ प्रायः स्थगित रहती थी। साधु संन्यासी भी जो सर्वदा भ्रमण करने वाले माने जाते हैं बरसात के चौमासे मे एक ही जगह ठहर कर आज भी चातुर्मास्य करते हैं। इसी परम्परा के अनुरूप श्रावण से लेकर 3–4 मासों तक गुरुकुलों और तपोवनों में जिज्ञासु और शिष्यगण स्वाध्याय का सत्र चलाते थे। इसे उपाकरण या उपाकर्म कहा जाता था जिसका अर्थ था विधिवत् वेदों के अध्ययन का सत्र चलाना। इसमें यात्रा से विरत होकर गुरु और शिष्य तपोवन मे एक जगह बैठकर पूरे वर्षा काल में वेदों पर मनन करते थे। श्रावण मास की पूर्णिमा से यह प्रारम्भ होता था अतः इसे श्रावणी भी कहा जाने लगा।

इस प्रकार ब्राह्मण वर्ग में यह पर्व वेदाध्ययन का सत्र प्रारम्भ करने का पर्व था जिसकी परम्परा आज भी पूरे भारत में निभाई जाती है। किन्तु इसका रूप आज केवल इतना रह गया है कि वैदिक लोग किसी तीर्थ के किनारे जाकर स्नान करते हैं, जनेऊ बदलते हैं तथा वेदों की पुस्तकों और यज्ञ पात्रों की सफाई करते हैं। सूर्य को प्रणाम, हवन और पंचगव्य सेवन आदि की रीतियां भी जुड़ गई हैं। सम्भवतः उपाकर्म की इस प्राचीन परम्परा को देखकर ही भारत सरकार ने इस दिन संस्कृत दिवस मनाने के निदेश दिये। तदनुसार कुछ वर्षों से यह दिन संस्कृत दिवस के रूप में मनाया जाता है।

रक्षा बन्धन की परम्परा इस दिन कब से शुरू हुई इस सम्बन्ध में विद्वानों के अनेक मत हैं। प्राचीन पुराणों में बहिन द्वारा भाई को राखी बांधने का उल्लेख

नहीं मिलता। पुरोहित तथा ब्राह्मण वर्ग यजमानों को राखी बांधते समय जो मंत्र बोलते हैं उसका सम्बन्ध उस कथा से है जिसमें इन्द्राणी ने इन्द्र के हाथ में राखी बाधी थी। कुछ पुराणों में यह कथा इस प्रकार मिलती है कि देवासुर संग्राम में असुरों के राजा बलि से देवता जब पराजित होने लगे तो देवराज इन्द्र विचलित हो गये। उन्होने अपने गुरु बृहस्पति की सलाह ली और रक्षा सूत्र शास्त्रीय विधि से इन्द्राणी द्वारा इन्द्र के हाथ में बन्धवाया गया जिसके प्रभाव से इन्द्र विजयी हुए और राजा बलि बन्दी बना लिये गये। तभी से रक्षा कवच या रक्षा सूत्र के रूप में एक डोरा बांधने की प्रथा चली।

येन बद्धो बली राजा दानवेन्द्रो महाबलः।
तेन त्वां प्रतिबध्नामि रक्षे मा चल मा चल।

यह मंत्र बोल कर आज भी इसी कामना से राखी बाधी जाती है कि जिस प्रकार इससे इन्द्र की रक्षा हुई और शत्रु पराजित हुआ, वही शुभ फल यह तुम्हें दे। स्पष्ट है कि इस कथा से बहिन द्वारा भाई को राखी बाधे जाने की परम्परा का संकेत नही मिलता। लगता है यह प्रथा बाद में प्रचलित हुई। इसका कारण यह रहा होगा कि उत्तर भारत में सावन में लड़कियां ससुराल से अपने पीहर अवश्य आती हैं। सावन की फुहारों को देखते ही विवाहित महिला अपने पीहर की याद करती है, भाइयो, भाभियों और सहेलियो के साथ बाबुल के घर झूले की पींगें बढ़ाने के सपने देखती है। बड़ी उमग से प्रतीक्षा करती हैं कि कब बाबुल भैया को लिवाने भेजेगें। लोक गीतो में यह मधुर भावनाएँ आज भी जन मानस में रस का सचार करती हैं। सावन की हरियाली में लहरिये की सौगात विवाहित कन्याओं को दी जाती हैं। वे प्रायः पूरा मास पीहर में बचपन की यादो को ताजा करते हुए बिताती हैं। इसका कारण भी वर्षा काल मे यातायात कठिन हो जाने के कारण उससे पूर्व ही कन्या को पीहर ले जाने की प्रथा में देखा जा सकता है।

इस अवसर पर पीहर में रहते हुए बहिन भाई के हाथ मे राखी बाधे, यह परम्परा यदि चल निकली तो कोई आश्चर्य नही। धीरे-धीरे इसका स्वरूप यह भी होने लगा कि बहिन भाई को अपनी रक्षा के लिए वचनबद्ध करती है। तभी तो राखी भेज कर बड़े-बड़े शासको को भाई बनाने और उनसे सैनिक और राजनैतिक रक्षा प्राप्त करने के उदाहरण भी इतिहास मे मिलते हैं। मेवाड़ के राजा विक्रमादित्य की माता करणावती (कर्मवती) की कथा प्रसिद्ध है जिसके राज्य पर गुजरात के शासक बहादुरशाह का आक्रमण हो गया था। राज्य की रक्षा का कोई अन्य उपाय न देख कर करणावती ने दिल्ली के बादशाह हुमायूं को इस संदेश के साथ राखी भेजी कि मैं तुम्हे अपना भाई बनाती हूँ, अब मेरी रक्षा तुम्हारा कर्तव्य है।

मुगलों ने भी हिन्दुओं की इस पुनीत परम्परा को सम्मान दिया। बाद में तो राखी भाई बहिन के पवित्र प्रेम का प्रतीक बन गई। यदि कोई महिला किसी को राखी बांध देती है तो उन दोनों के सम्बन्ध की पवित्रता पर किसी को सन्देह नहीं होता। राजस्थान के रजवाड़ों में जिस प्रकार पुरोहितों द्वारा राजाओं, सेठों और यजमानों को राखी बांध कर आशीर्वाद देने की परम्परा थी उसी प्रकार इस दिन राजा के दरबार में उपस्थित होकर सामंतों द्वारा अपने रक्षक को रक्षा सूत्र के साथ सौगात या भेंट देने की भी प्रथा थी जो अब स्वतः ही समाप्त हो चली है।

जैन समाज मे वर्षा काल विभिन्न प्रकार के धार्मिक आयोजनों की ऋतु रहती हैं। श्रावण की पूर्णिमा को भी मुनियों की पूजा तथा अन्य अनेक धार्मिक आयोजन किये जाते हैं। श्रावणी का पर्व इस प्रकार विविध परम्पराओं का सगम स्थल बन गया है। जहां यह स्वाध्याय, पवित्र प्रेम, त्याग और कर्त्तव्य की अटूट परम्पराओं का प्रतीक है राजस्थान जैसे रेगिस्तानी अंचलों में हरियाली के उल्लास का भी वाहक हैं। पूरा सावन यहां हरियाली के त्यौहारों, गोष्ठियो और पिकनिकों से भरा रहता है। जयपुर में तो सावन के प्रत्येक सोमवार को 'वन सोमवार' के नाम से मनाने की परम्परा है। इस दिन यहां के व्यक्ति विशेषकर महिलाएं घर मे भोजन नहीं करतीं, किसी उद्यान में या हरियाली वाले स्थान में जाकर गीतों और आमोद-प्रमोद के साथ वहीं भोजन किया जाता है। मूलतः वर्षाकालीन 'पिकनिक' के उद्देश्य से प्रारम्भ किये गये इस सामाजिक उत्सव को धार्मिक रंग भी दिया गया। इस दिन शिव-पार्वती की पूजा कर उनसे सुख-सौभाग्य का आशिर्वाद मांगने की परम्परा इसके साथ जुड़ गई। इसके फलस्वरूप आज भी जयपुर के बागों और निकटस्थ हरे-भरे स्थानो में श्रावण के प्रत्येक सोमवार को रंग-बिरंगे परिधानो मे, गाती बजाती महिलाएं देखी जा सकती है श्रावण का पूरा मास इस प्रकार के लोकोत्सवों मे बीतता है, सावन की 'तीज' जिसका एक अंग है। रक्षाबन्धन का पर्व उसी परम्परा की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी बन गई है।

—o—

संस्कृति : तथ्य और कथ्य

संस्कृति मूल्यबोध के संकेतों की एक ऐसी परम्परा है जो समग्र समाज के सामूहिक अवचेतन को एक सूत्र में बांधे रखती है। उसका स्वयम्भू उद्विकास विचार की पारस्परिकता, विचारों के उत्कर्ष की निरन्तरता और मूल्यबोध के परिष्कार की प्रक्रिया से होता है।

× × ×

संस्कृति एक समग्र मूल्यदृष्टि है जो विकसित विचारशक्ति के मानवसमाज का एक उत्कृष्ट सर्जन है—अपना सर्जन, अपने स्वय के लिए।

× × ×

भारतीय संस्कृति एक सामासिक संस्कृति है। वस्तुत सभी संस्कृतियां सामासिक होती हैं। विश्व की कोई संस्कृति ऐसी नहीं है जो सामासिक न हो, ऐकान्तिक हो।

× × ×

भारतीय संस्कृति एक सम्मिश्र संस्कृति है, जो मेल से उपजी है, अलगाव से नहीं।

× × ×

सभ्यता वह है जिसमे हम जीते हैं।
संस्कृति वह है जो हममें जीती है।

5

विविधा

विक्रम संवत्सर और भारतीय पंचांग

इस देश का सांस्कृतिक और धार्मिक वर्ष विक्रम संवत्सर चैत्र शुक्ला प्रतिपदा से शुरू होता है पर शायद इसका पूरा परिज्ञान आधुनिक पीढ़ी को न हो क्योंकि अब ग्रेगोरियन कलैण्डर के अनुसार चलने वाला ईस्वी वर्ष अधिक प्रचलित है और नई डायरियां व नये कलैण्डर, घरों, दफ्तरों और व्यापारिक प्रतिष्ठानों में इसी के अनुसार टांगे जाते हैं। कभी कोई यह प्रश्न पूछ लेता है कि जब इस देश में यह ग्रेगोरियन कलैण्डर नहीं चलता होगा तब वर्ष कब बदलता था और नई 'डायरियां' कब आती थीं, तब अन्य संवत्सरों और विक्रमी वर्ष की याद आती है।

वैसे इसका उत्तर खोजने के लिए बहुत दूर जाने की आवश्यकता अब तक तो नहीं पड़ती है क्योंकि पुराने संवत्सरों के पंचांग भी अब तक चल रहे हैं। विक्रम संवत् के 2040 वर्ष समाप्त हो चुके हैं और इस वर्ष गणना के अनुसार बने पंचांग अब भी मिलते हैं। नई रोशनी के बावजूद अब तक ये पंचांग भी चल ही रहे हैं क्योंकि अब भी अधिकांश भारतीय परिवारो मे विवाह के मुहूर्त इन्हीं पंचागो के आधार पर निकलते हैं—होली, दीवाली आदि सारे हिन्दू त्यौहार सारे भारत मे इन्ही पंचांगों के अनुसार मनाये जाते हैं। ग्रामीण अंचलों मे तो विशेषकर ये पंचांग ही लोक जीवन के महत्वपूर्ण कार्यों को नियमित करते हैं। इन्ही के आधार पर जन्म कुंडलिया बनती हैं। ग्रेगोरियन कलैण्डर के प्रचलित होने से पूर्व विक्रम संवत् ही देश के अधिकांश राज्यों मे प्रचलित था और इतिहासकार, ज्योतिषी, लेखक आदि ही नही, देशी रियासतों के दस्तावेज-लेखक, न्यायाधीश और अधिकारी आदि भी तिथि का उल्लेख इसी विक्रम संवत् के आधार पर किया करते थे।

विक्रम संवत्सर का पंचांग भी विश्व के अन्य पंचांगो की तरह मासों में विभाजित है और आजकल चैत्र मास से शुरू होता है। उत्तर भारत में पूर्णिमा पर मास की समाप्ति मानी जाती है। किन्तु कुछ सदियों पूर्व तक सारे भारत में अमावस्या से मास की समाप्ति मानी जाती थी। आज के उत्तर भारतीय पंचागों में भी उसी के प्रतीक स्वरूप अब भी अमावस्या की तिथि को "30" के अंक से सूचित किया जाता है। इसी कारण विक्रम संवत्सर का आरम्भ चैत्र शुक्ला प्रतिपदा को

होता है। दूसरे शब्दों में चैत्र मास की जो अमावस्या बताई जाती है वह वस्तुतः फाल्गुन की अमावस्या होती है। दक्षिण भारत में व गुजरात आदि प्रान्तों में आज भी यही अमान्त मास गणना चल रही है अर्थात् वहाँ जब फाल्गुन मास समाप्त होता है, उसके दूसरे दिन से चैत्र मास का और नव वर्ष का प्रारम्भ होता है। हमारे यहाँ पूर्णिमान्त मास गणना होने के कारण फाल्गुन की पूर्णिमा को ही फाल्गुन मास समाप्त मान लिया गया अर्थात् होली पर फाल्गुन मास पूरा न मानकर उसके दूसरे ही दिन से चैत्र कृष्णा प्रतिपदा मान ली गई और इस प्रकार फाल्गुन कृष्ण पक्ष को चैत्र कृष्ण पक्ष कहा जाने लगा। वैसे अमान्त मास गणना के अनुसार ही विक्रमी वर्ष चैत्र मास के प्रारम्भ में चैत्र शुक्ल प्रतिपदा को शुरू होता है।

विक्रम संवत्सर—

विक्रमी वर्ष भारत की सांस्कृतिक थाती का अविभाज्य अंग है जो हजारों वर्षों से इस देश के इतिहास को आधार देता रहा है। जिस प्रकार पूरे इंग्लैंड के इतिहास में जूलियस सीजर द्वारा चलाया गया जूलियन कलैण्डर आज से चार सौ वर्ष पूर्व तक सारी गतिविधियों को नियन्त्रित करता था और उसके बाद से पोप ग्रेगरी द्वारा उसके संशोधन किये जाने पर ग्रेगोरियन कलैण्डर सारी पश्चिमी दुनिया में व्याप्त है उसी प्रकार विक्रम संवत्सर और भारतीय पंचांग के अनुसार ही भारत हजारों वर्षों से अपने उत्सव-पर्व आदि मनाता रहा है।

विक्रमी संवत् को शुरू हुए 2040 से अधिक वर्ष बीते माने जाते हैं। यह अवश्य उल्लेखनीय है कि यह वर्ष गणना किसने शुरू की इस पर विद्वानों ने बड़ी अटकलें लगाई हैं और अब तक उनमें मतैक्य नहीं हुआ है। इसका प्रमुख कारण है विक्रमादित्य के व्यक्तित्व का रहस्यमय होना। यह विक्रमादित्य कौन था, कहाँ का राजा था, कब गद्दी पर बैठा था, इसका सर्वसम्मत ऐतिहासिक प्रमाण न मिलने का परिणाम यह हुआ है कि परम्परावादी तो शकारि विक्रमादित्य नामक एक राजा को लगभग 2040 वर्ष पूर्व उज्जयिनी राजधानी में राज करने वाला प्रतापी नरेश मानते हैं जबकि शोध विद्वानों कहना है कि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य से पूर्व "विक्रम" "आदित्य" आदि शब्दों का कहीं प्रयोग न मिलने के कारण उज्जयिनी नरेश केवल परम्परा में ही जीवित हैं।

आज से लगभग 40 वर्ष पूर्व जब विक्रम संवत्सर के दो हजार वर्ष पूरे हुए थे तो देश में विक्रम द्विसहस्राब्दी समारोह बड़ी धूमधाम से मनाया गया था। उस अवसर पर भी देश के मूर्धन्य इतिहासकारों ने विक्रमादित्य के जीवन, रहस्य और इतिहास पर बड़े विस्तार से प्रकाश डाला था किन्तु उसका विवरण अभी न देकर इतना ही उल्लेख पर्याप्त होगा कि उस समय भी अधिकांश इतिहासकारों की धारणा

थी कि उज्जयिनी नरेश विक्रमादित्य के बारे में ऐतिहासिक मतभेद होने पर भी यह तो निर्विवाद ही है कि इस संवत्सर गणना का प्रारम्भ ईसा से 57–58 वर्ष पूर्व मालव राज्य में हुआ था। इसी कारण इसे प्राचीन शिलालेखों में "मालव वर्ष" कहा गया है। प्रारम्भ में इसे "कृत" वर्ष भी कहा जाता था जो अनेक प्राचीनतम शिलालेखों में उल्लिखित हैं। आठवीं सदी के बाद इसे विक्रम संवत्सर कहा जाने लगा। इस वर्ष गणना से पूर्व सत्य-त्रेता-द्वापर-कलियुग वाली चतुर्युगी वर्ष गणना चलती थी जिसके अनुसार कलियुग को शुरू हुए 5085 वर्ष हो गये हैं। विक्रम संवत्सर और पंचांग इतना लोकप्रिय हुआ कि इसके प्रारम्भ होने के बाद अन्य सारे पंचांग लुप्तप्राय हो गये। इसका प्रमुख कारण है इस देश का ज्योतिष पर अटूट विश्वास और इस पंचांग का पूर्णतः ज्योतिष पर आधारित होना तथा इसमें ज्योतिष की प्रत्येक जानकारी का समावेश।

पंचांग के पांच अंग होते हैं—तिथि (अर्थात् सूर्य और चन्द्र की आपेक्षिक स्थिति की कल्पित गणना संख्या की इकाई), वार (अर्थात् उस दिन सूर्योदय के समय प्रथम होरा का स्वामी कौन सा ग्रह होगा) नक्षत्र (अर्थात् उस दिन चन्द्रमा किस नक्षत्र पर दिखेगा) योग (अर्थात् सूर्य और चन्द्र की सम्मिलित गति की गणना की कल्पित इकाई) और करण (अर्थात् आधी तिथि को एक इकाई मानकर उसका कल्पित नाम)। "पंचांग" में इन सब के शुरू होने और समाप्त होने की सूक्ष्मतम गणित के अनुसार प्रतिपल की जानकारी दी हुई होती है।

ज्योतिष की दृष्टि से देखा जाए तो यह पंचांग ज्योतिष के गणित और फलित-दोनों प्रकारों द्वारा वांछित समस्त जानकारी समाहित किये हुए रहता है। इसमें सूर्य और चन्द्र के अतिरिक्त अन्य समस्त ग्रहों की गतियों का भी सूक्ष्म विवरण कुछ शताब्दियों से दिया जाने लगा है। ग्रेगोरियन कलैंडरों में केवल महीने के दिनांक और वार दिये जाते हैं। जब ग्रहों की गति की जानकारी आवश्यक होती है तो इनकी तालिकाएं वैज्ञानिकों द्वारा प्रकाशित 'एफेमरीज' को देखकर बनानी पड़ती हैं। हमारे यहां ज्योतिषी उन सब तालिकाओं और सारणियों को एक समय पंचांग में छापकर सस्ते मूल्य पर घर-घर में सदियों से उपलब्ध कराते रहे हैं। इस दृष्टि से यह पंचांग केवल वैज्ञानिक आवश्यकताओं को पूरा करने हेतु शुद्ध गणितीय दृष्टिकोण से ही प्रारम्भ किया गया होगा, यह इसके देखने से ही स्पष्ट हो जाता है।

विश्व के अन्य कलैंडर

यह पंचांग भी वर्षों और मासों में बँटा हुआ है पर इसकी यह विशेषता है कि इसमें हर साल 12 महीने के ही हों यह जरूरी नहीं है जबकि विश्व के अधिकांश अन्य पंचांगों में हर साल 12 महीने के ही होते हैं। भारत के सभी पंचांगों की प्रायः यही स्थिति है। ऊपर बताया जा चुका है कि पंचांग और वर्ष गणना (याने

संवत्सर अथवा 'शक') में अन्तर है। यह वर्ष गणना जो विक्रम संवत्सर के नाम से जानी जाती है लगभग 2040 वर्ष पूर्व के एक वर्ष को 1 अंक मान कर बनाई गई थी। ऐसे संवत्सर गणना के क्रम भारत में ही अनेक हैं, कुछ युधिष्ठिर संवत् मानते हैं, कुछ बुद्ध जन्म से वर्ष गणना करते हैं, कुछ महावीर जिन से। गोस्वामी तुलसीदास से 'तुलसी संवत्' भी चल गया था। शालिवाहन 'शक' अलग चल रहा है। इसी की वर्ष गणना मानते भारत सरकार का शकाब्द अलग है जिसका नया वर्ष 1906 चल रहा है (1984 में)। भारतीय ज्योतिषी बताते हैं कि कलियुग में युधिष्ठिर, विक्रम, शालिवाहन, विजय और नागार्जुन ने अपनी-अपनी संवत्सर गणना भारत में प्रचलित की और अब कल्कि करेंगे। यही बात बताते हुए एक श्लोक हर पंचांग में लिखा जाता है पर पंचांग विभाजन भारत के सभी पंचांगों का प्रायः एक ही प्रकार का है। वर्ष प्रवेश कहीं चैत्रारम्भ से माना जाता है, कहीं मेष संक्रान्ति से (जैसे बंगाल, केरल आदि में जहां सौर वर्ष चलता है।)

विश्व के पंचांग या तो प्रमुखतः सूर्य पर आधारित हैं या चन्द्र पर। सूर्य की परिक्रमा पृथ्वी लगभग 365¼ दिन में पूरी करती है अतः सौर पंचांग प्राय. 365 दिन के होते हैं। सूर्य से मौसम बदलते हैं अतः सौर गणना वाले पंचांग से मौसम की जानकारी तुरन्त हो जाती है। ऊपर हमने जिन जूलियन और ग्रेगोरियन कलेण्डरों का हवाला दिया है वे सूर्य की गति (याने पृथ्वी की सूर्य के चारों ओर गति) पर आधारित हैं। तभी यह जानकारी तुरन्त हो जाती है कि हर वर्ष 14 जनवरी को मकर संक्रान्ति होगी, 21 जून का दिन सबसे बड़ा होगा, 21 दिसम्बर सबसे छोटा, 21 मार्च और 21 सितम्बर को रात-दिन बराबर होंगे। यह तो हुआ प्रमुखतः सौर वर्ष। कुछ पंचांग प्रमुखतः चन्द्रमा पर आधारित हैं जैसे मुस्लिम वर्ष। ऐसे वर्ष प्रायः 354 दिन के होते हैं। चांद देखने की तारीख जानने में सुविधा हो इसलिए मुस्मिल धर्म ने चान्द्र सवत्सर माना। चन्द्रमा पृथ्वी की परिक्रमा 27 दिन से कुछ अधिक समय में पूरी करता है और पृथ्वी की अपनी गति के कारण साढ़े 29 दिन बाद पुनः वहीं दिखाई देता है इसलिये उसे महीना मान कर 12 महीनों में 354 दिन का एक हिजरी वर्ष माना गया। इस गणना से यह जानना आसान है कि पहली तारीख चांद निकलने के बाद से शुरू होगी। किन्तु इससे मौसम की जानकारी नहीं होगी। मोहर्रम कभी जाड़े में पड़ेगा, कभी बसन्त में, कभी हेमन्त में कभी अन्य ऋतु में।

सभी इस्लामिक देशों में यही पंचांग और हिजरी संवत् चलता है जो 16 जुलाई 622 ई० को मोहम्मद साहब के मक्का से मदीना जाने की 'हिजरा' से शुरू हुआ माना जाता है। यूनान और रोम का ज्योतिष सूर्य पर आधारित होने के

कारण योरप, इंग्लैण्ड, अमेरिका आदि में सौर पंचांग चलता है। भारत ने सूर्य और चन्द्र की आपेक्षिकता को गणना का आधार माना और सौर और चान्द्र दोनों गणनाओं में साथ-साथ समन्वय बैठाते हुए सौर-चान्द्र पंचांग बनाना चाहा। इसलिये मास गणना पूरी तरह चन्द्रमा पर रखी गई पर सूर्य का भी लिहाज किया गया और वर्ष में 12 राशियों पर उसकी 12 संक्रान्तियां गिनी जाने लगी। अब सूर्य और चन्द्र की गति में जो अन्तर है उसमें तालमेल कैसे बैठे ? क्योंकि इनमें प्रति वर्ष लगभग 10-11 दिन का अन्तर आता है।

इसी अन्तर में तालमेल बिठाने के लिये हर तीसरे साल लगभग 30 दिन और जोड़ने हेतु 'अधिक मास' की अवधारणा की गई। इस प्रकार यहां हर तीसरे वर्ष में 13 महीने होते हैं। सूर्य और चन्द्र इन दोनों के तालमेल के उद्देश्य के कारण इस पंचांग में दोनों की गति की सदा जानकारी रहती है। हर महीने की पूर्णिमा को चन्द्रमा उस नक्षत्र पर रहेगा जिस नक्षत्र पर उसका नाम पड़ा है–जैसे चैत्र पूर्णिमा को चित्रा नक्षत्र पर, वैशाख पूर्णिमा की विशाखा पर, ज्येष्ठ पूर्णिमा को ज्येष्ठा, श्रावण (श्रवण), आश्विन (अश्विनी) कार्तिक (कृतिका), पौष (पुष्य), माघ (मघा) आदि। सूर्य ग्रहण अमावस्या को, चन्द्र ग्रहण पूर्णिमा को होगा। सूर्य, चन्द्र दोनों की आपेक्षिक दूरी के आधार पर शुक्ल पक्ष और कृष्ण पक्ष हमें बनाने पड़े–याने अमावस्या को सूर्य व चन्द्र सदा एक रेखा में (साथ-साथ) रहेंगे–पूर्णिमा को एक दूसरे के विपरीत बिन्दु पर। दोनों की आपेक्षिक स्थिति का हर बार ध्यान रखने के कारण तिथियों का घटना, बढ़ना और अधिक मास और क्षय मास मानना अनिवार्य हो ही जाता है। इस पर विस्तार का यहां प्रसंग नहीं है। यह बताना बेशक आवश्यक है कि आपेक्षिक और सूर्य-चन्द्र में समन्वय वाली गणना केवल भारत ने ही नहीं, यहूदियों ने भी चलाई है। यहूदी ईसा से 3760 वर्ष विश्व की उत्पत्ति मान कर वहीं से वर्ष गणना प्रारम्भ करते हैं। उन्हें भी सूर्य-चन्द्र की गतियों के अन्तर में तालमेल बिठाने के लिए 19 वर्ष के एक चक्र में हर सातवें साल एक अधिक मास मानना पड़ता है। उनका वर्ष शरत्काल में शुरू होता है–तिशरी माह की एक तारीख को, जैसे हमारा वर्ष आजकल बसन्त ऋतु से शुरू होता है। सदा से हमारा वर्ष बसन्त ऋतु से शुरू होता रहा हो सो कोई बात नहीं है। बहुत प्राचीन काल में हमारे यहां भी पाश्चात्य देशों की तरह मार्गशीर्ष से वर्ष शुरू होता था। उधर इंग्लैण्ड में बारहवीं सदी से सत्रहवीं सदी तक बसन्त ऋतु (मार्च) से साल शुरू होता था। फ्रांस ने अठारहवीं सदी से अपने प्रजातन्त्र की स्थापना के दिन से साल शुरू करने का प्रयत्न 22 सितम्बर 1792 से किया था। वहां सितम्बर से साल शुरू किया गया पर 13–14 साल के बाद इस स्थिति को बदलना पड़ा और अन्य पाश्चात्य देशों की तरह फ्रांस भी 1 जनवरी 1806 से वापस जनवरी से साल शुरू करने लगा। भारत में गत 117 वर्षों से (1867 से) 1 अप्रेल से वित्तीय वर्ष शुरू होता है।

भाषा और भावना

भाषा के प्रश्न को लेकर इस देश मे जिस कदर भावनाएँ तीव्र हुई है, उसका नजारा आये दिन अखबारो मे देखा जा सकता है। भाषा के लिए नारेबाजी, हिंसा और उपद्रव, जानी पहिचानी घटनाएँ हो गई हैं। भाषा के नाम पर आत्म-दाह भी हुए हैं। क्यों न हो, भाषा के आधार पर ही तो राज्य पुनर्गठन आयोग की सिफारिशो के मुताबिक राज्य बने और बिखरे हैं। भाषा के प्रति निष्ठा मानो एक ऐसी पुनीत आस्था बन गई है जिसे ढीला कर देना गद्दारी सी लगने लगती है।

आज के माहौल मे शायद यह कहना चौकाने वाली बात ही होगी कि भाषा-निष्ठा से बढ़कर भी कोई आस्था हो सकती है, इसके उदाहरण इतिहास में मे खोजे जा सकते हैं। एक ऐसी ही घटना का सम्बन्ध है वल्लभाचार्य से जिनकी पंचशती पिछले दिनो मनाई गई थी। 500 वर्ष पहले एक ओर विदेशी संस्कृति तेजी से फैल रही थी और दूसरी ओर अपने धर्म और संस्कृति को बचाने के अभियान चल रहे थे। एक ऐसा ही अभियान था भक्ति-मार्ग जिसका प्रवर्तन रामानुज, निम्बार्क जैसे आचार्यों ने अपने-अपने भक्ति सम्प्रदाय चलाकर किया। वल्लभाचार्य इन सबमे परवर्ती थे। ये आन्ध्र के ब्राह्मण थे और इनकी मातृभाषा तेलुगु थी। इनके पिता लक्ष्मणाचार्य आन्ध्र से उत्तर भारत में आये थे। इस परिवार मे वेदान्त विद्या पनपी और वल्लभाचार्य ने पुष्टि मार्ग का प्रवर्तन किया जिसके अनुयायी लाखो की सख्या मे आज भी भारत के कोने-कोने मे व्याप्त हैं।

भाषा-विवाद के अध्येता को इस सम्प्रदाय में जो बात आश्चर्यजनक लग सकती है वह है इन आचार्यों द्वारा अपनी मातृभाषा का परिवर्तन। तेलुगु-भाषी वल्लभाचार्य और उनके पुत्र गोस्वामी विट्ठलनाथ ने अपनी सारी रचनाएँ संस्कृत मे लिखी थीं किन्तु उन्हे हिन्दी साहित्य के इतिहास में ब्रजभाषा साहित्य के एक प्रबल पोषक के रूप मे उल्लिखित किया जाता है। गोस्वामी विट्ठलनाथ के पुत्र गोकुलनाथ और पौत्र हरिराय तो ब्रजभाषा के प्राचीन गद्यकारो मे माने जाते हैं। ऐसा क्यों हुआ? इसका कारण है इस सम्प्रदाय के आचार्यों द्वारा ब्रजभाषा का सामूहिक रूप से मातृभाषा की तरह परिग्रहण। ऐसे उदाहरण तो बहुत मिलेंगे कि एक प्रान्त का विद्वान् दूसरे प्रान्त की भाषा का अच्छा साहित्यकार बन गया हो,

ऐसे उदाहरण भी मिल जाएंगे कि दीर्घकाल के प्रवास के कारण किसी परिवार ने अपनी मातृभाषा की बजाय दूसरे क्षेत्र की भाषा अपना ली.हो, पर ऐसा उदाहरण शायद यही एक है जिसमे एक बहुत-बड़े वर्ग ने किसी कारण से अपनी मातृभाषा बदलकर दूसरी बना ली हो। यह वर्ग है आन्ध्र ब्राह्मणों का एक बहुत बड़ा तबका जो प्रथमतः वल्लभाचार्य के दर्शन का अनुयायी था।

पुष्टिमार्ग के आचार्य, व्याख्याकार और चिन्तक अधिकांशतः वल्लभाचार्य के वंशज या उनके वर्ग के अन्य ब्राह्मण रहे हैं जो आन्ध्र या तैलंग थे और जिनमे से अधिकाश उत्तर भारत में आ बसे थे। इन सबकी मातृभाषा तेलुगु थी किन्तु सबने अपनी मातृभाषा के रूप मे ब्रजभाषा को स्वीकार कर लिया। सामान्यतः एक प्रान्त के प्रवासी दूसरे प्रान्त मे बसने पर भी अपनी मातृभाषा नहीं छोड़ते हैं। शताब्दियों से हिन्दी प्रान्तो मे बसे बंगालियों, दक्षिणात्यो आदि की मातृभाषा अब तक बंगाली और दक्षिण की भाषाएं ही हैं। किन्तु आन्ध्र विद्वानो के इस तबके का यह भाषा परिवर्तन कुछ विशिष्ट कारणों से हुआ। उन प्रवासी आन्ध्रों की भी जो गुजरात, बंगाल या महाराष्ट्र मे थे मातृभाषा ब्रजभाषा हो गई थी और आज तक भी है। वल्लभाचार्य के वंशज भी जो 'गोस्वामी' कहलाते है कश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक और गुजरात से लेकर बंगाल तक फैले हुए हैं किन्तु सबके परिवारों की मातृभाषा समान रूप से ब्रजभाषा ही है।

इस भाषा परिवर्तन के कारण प्रमुखतः दो थे। पहला कारण तो यह था कि इन आचार्यों ने सारे समाज में जिस भक्ति-भावना की भागीरथी वहाई थी उसके आराध्य थे कृष्ण, जो ब्रज मे जनमे थे। उनकी मातृभाषा ब्रजभाषा थी। अपने आराध्य की भाषा को मातृभाषा बना लेना और अपनी मातृभाषा छोड़ देना किसी एक ऐसी तीव्रतर भावना या निष्ठा का ही करिश्मा था जो निश्चित रूप से भाषा के प्रति निष्ठा से अधिक बलवती थी। भाषा परिवर्तन का यह प्रमुख कारण था।

इसका एक कारण और भी था। इन आचार्यों ने अपनी दार्शनिक व्याख्या और ग्रन्थ तो संस्कृत मे लिखे जो उस समय सारे भारत में बौद्धिक चिन्तन और लेखन का माध्यम थी किन्तु उन्होने अपने काव्य और कथाएं (जैसे चौरासी और 252 वैष्णवो की वार्ताएं) ब्रजभाषा में लिखीं क्योंकि ब्रजभाषा उस समय भारत के बहुत बडे हिस्से में काव्य-रचना की अन्तःप्रांतीय भाषा बन गई थी, पंजाब और हरियाणा के साधुओं से लेकर महाराष्ट्र से बिहार तक के कवि इसी भाषा में काव्य रच रहे थे। केरल के राजा स्वाति तिरुनाल तक ने इस भाषा में काव्य-रचना की थी। पुष्टि मार्ग की भक्ति-भावना को इस काव्य-सरिता के माध्यम से फैलाना वल्लभाचार्य का उद्देश्य था। इसीलिए उन्होने और उनके पुत्र विट्ठलनाथ ने सूरदास आदि आठ 'अष्टछाप' के कवियों को अपने आराध्य के प्रति भक्ति-सुमन ब्रजभाषा कविता द्वारा

अर्पित करने की प्रेरणा दी जिससे हिन्दी साहित्य की अभूतपूर्व श्रीवृद्धि हुई। इसीलिए हिन्दी साहित्य के सभी साहित्यकारों ने तेलुगु-भाषी वल्लभाचार्य और उनके संप्रदाय का ब्रजभाषा साहित्य पर जो ऋण है उसकी मुक्त-कण्ठ प्रशंसा की है। आश्चर्य केवल इस बात का है कि इन आचार्यों के अपनी मातृभाषा के स्थान पर अपने आराध्य की भाषा को मातृभाषा बना लेने के इस ऐतिहासिक त्याग का उल्लेख साहित्य के इतिहास मे नहीं हो पाया है। वल्लभाचार्य और उनके वंशजो की इस प्रवृत्ति का उनके अनुयायी अन्य आन्ध्र ब्राह्मणों पर भी यह प्रभाव पड़ा कि उन्होंने भी समान रूप से ब्रजभाषा को अपनी मातृभाषा बना लिया। इन. लोगों के विवाह सम्बन्ध दक्षिण राज्यों मे सदा से होते रहे हैं पर दक्षिण से आई हुई कन्याएं भी ब्रजभाषा को ही मातृभाषा के रूप में बोलने लग जाती हैं।

प्रवासी आन्ध्र ब्राह्मणों के इस तबके ने जो पहले वल्लभाचार्य के साथ आये और बाद मे राज्याश्रय प्राप्त कर उत्तर भारत मे बस गये, ब्रजभाषा को न केवल मातृभाषा के रूप में अपना लिया बल्कि इसके साहित्य मे मूर्धन्य ग्रन्थों और काव्यों की रचना करके हिन्दी साहित्य में अपना नाम सुरक्षित कर लिया। ऐसे कुछ उदाहरण ही पर्याप्त होगे। रीतिकालीन मूर्धन्य कवि जगद्विनोद के रचयिता पद्माकर का नाम सभी जानते हैं जो 'भट्ट तिलंगाने को बुन्देलखण्डवासी' थे। इस तैलंग ब्राह्मण ने मध्य प्रदेश और राजस्थान में रहकर ब्रजभाषा काव्यों की जो अमृत वर्षा की उसका सानी व्रज के मूल निवासियों में भी नही मिलता। ऐसे ही एक अन्य तैलंग विद्वान् थे श्रीकृष्ण भट्ट जिन्हें जयपुर नगर के सस्थापक सवाई जयसिंह ने 'कवि कलानिधि' की उपाधि दी थी। इनके ब्रजभाषा के रीति ग्रंथो मे 'अलंकार कलानिधि' अप्रकाशित होने पर भी विख्यात है। उनके कुछ काव्यशास्त्रीय ब्रजभाषा ग्रंथ 'शृंगार रस-माधुरी' आदि प्रकाशित हो चुके हैं। ऐसे ही रीतिग्रंथकारों मे 'रसिकरसाल' के रचयिता कुमारमणि और 'छत्र प्रकाश' के लेखक छत्रसाल के राजकवि लालकवि भी तैलंग थे। इन विद्वानो के वंशज आज देश के विभिन्न प्रान्तो मे बसे हुए हैं किन्तु तब से जिस ब्रजभाषा को इन्होने मातृभाषा के रूप मे अपनाया था वह आज भी चली आ रही है।

आज जब अपनी भाषा के नाम पर एक-दूसरे की हिंसा और आन्दोलन करने से हम वाज नही आते, जब भाषा का जजबा कभी-कभी देश और धर्म के जजबे से भी अधिक बलवान हो उठता है, आज से 500 वर्ष पहले की यह घटना क्या हमें यह नही सिखाती कि भाषा की निष्ठा से बढ़कर भी कोई निष्ठा हो सकती है, चाहे वह धर्म के प्रति निष्ठा हो, आराध्य के प्रति निष्ठा हो या देश के प्रति निष्ठा हो?

—o—

भारत के रवीन्द्र : विदेशियों की दृष्टि में

विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने सन् 1913 में जब नोबेल पुरस्कार प्राप्त किया था तो सारे अंग्रेजी–भाषी विश्व में सनसनी फैल गई थी। टैगोर साहित्य पर भारत के एकमात्र नोबेल पुरस्कार विजेता हैं। एक अधीन देश का कवि अंग्रेजी की कविता लिखे और विश्व पुरस्कार के योग्य माना जाये, यह घटना मामूली सी बात नहीं थी। अंग्रेजी साहित्य के इतिहासकारों ने रवीन्द्र को इस घटना के पूर्व और पश्चात् किस प्रकार विभिन्न समयों पर, विभिन्न दृष्टिकोणों से देखा है, इसकी खोज भी कम दिलचस्प नहीं है।

उन "विश्वस्तरीय" समालोचकों और इतिहासकारों के साहित्य के मूल्यांकन के मानदण्ड भी राजनैतिक परिवर्तनों के साथ बदल सकते हैं जो अपने आपको निष्पक्षता और उदात्तता के पक्षधर बतलाते हैं, इसका एक उदाहरण अंग्रेजी साहित्य के इतिहासकारों का टैगोर के प्रति बदलता नजरिया भी है। अंग्रेजी साहित्य के इतिहासकार वैसे तो अंग्रेजी रक्त के अलावा अन्य किसी वंश के साहित्यकार को साहित्य के इतिहास में स्थान देने में सदा से ही झिझकते रहे हैं, किन्तु विश्व प्रसिद्ध "कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इंगलिश लिटरेचर" के तैयार होने तक, 20वीं सदी के प्रारम्भ में, अपनी विशाल-हृदयता और उदारता का परिचय वे यह कहकर देने लगे थे कि अंग्रेजी साहित्य अब केवल इंगलैण्ड का साहित्य न रह कर विश्व के बहुत बड़े अंग्रेजी-भाषी भू-भाग का साहित्य बन गया है। कैम्ब्रिज हिस्ट्री में, इसीलिए, आयरलैण्ड, भारत, कनाडा, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड और अफ्रीका में लिखे गये अंग्रेजी साहित्य का भी विवरण दिया गया।

इस इतिहास की 14 जिल्दों को एक जिल्द में संक्षिप्त करते हुए जो "कन्साइज कैम्ब्रिज हिस्ट्री" नाम से अंग्रेजी साहित्य का इतिहास जार्ज सेम्पसन ने 1941 में प्रकाशित किया उसमें रवीन्द्रनाथ की गीतांजलि और क्रेसेन्ट मून आदि कविताओं को "गद्य काव्य" कहा गया है। उनका मूल्यांकन बड़ी सतर्क भाषा में करते हुए पहले तो यह लिखा गया है कि टैगोर का स्थान अंग्रेजी साहित्य में होना चाहिए या नहीं, कितना होना चाहिए, इस पर गहरा विचार वांछनीय है

क्योंकि वे मूलतः बंगला के कवि हैं और अपनी बंगला कविता का अंग्रेजी गद्य में अनुवाद करते रहते हैं। इसके साथ ही कवि के रूप में उनका मूल्यांकन इस प्रकार किया गया है—

"उनकी मातृभाषा की रचनाओं से हमें सरोकार नहीं लेकिन जहां तक उनके अंग्रेजी गद्य काव्य का सवाल है हमें विवश होकर कहना पड़ता है कि उनके वास्तविक मूल्य को कुछ ज्यादा ही उछाला गया है। वास्तव में उनकी लिखी हुई अनेक पुस्तकों में जिनमें गीतांजलि (1912), दी क्रेसेन्ट मून (1913), फ्रूट गेदरिंग (1916), दी गार्डनर आदि शामिल हैं, प्रेरणास्पद सौन्दर्य के खोजी पाठकों को कोई भी ऐसी बात मिल पाना मुश्किल है' जो विचार और अभिव्यक्ति में बाईबिल के किसी पृष्ठ से अधिक समृद्ध हो। हमे तो यह लगता है कि गद्यकवि के रूप में टैगोर की लोकप्रियता का कारण यह है कि इन दिनों ऐसे आध्यात्मिक विचारों की भूख जाग रही है जो गहन न हों, जिनमें ऐसी प्राच्य पृष्ठभूमि दिखलाई देती हो जो अधिक सुदूर न हो।"

इस मूल्यांकन से भारत की स्वतन्त्रता से पूर्व अन्य देशों के अंग्रेजी साहित्यकारों के प्रति अंग्रेज समालोचकों के नजरिये का एक उदाहरण मिलता है। इससे यह भी लगता है कि किसी कवि को नोबेल पुरस्कार के योग्य माने जाने या न माने जाने से भी अंग्रेज समालोचक का कट्टरतावादी मानदण्ड प्रभावित नहीं होता। एक अधीन देश का साहित्यकार कितनी ऊंचाई तक उठ सकता है? बहरहाल, राजनीति में ऐसी शक्ति है जो बड़े-बड़े मानदण्डों को नर्म बना देती है। यही तो कारण नहीं कि समय के पलटा खाते ही इसी सुप्रसिद्ध इतिहास के नये संस्करणों में मामला बिल्कुल दूसरा ही नजर आने लगा? इस "हिस्ट्री" का तीसरा सस्करण 1970 में आर. सी. चर्चिल द्वारा किया गया। इसमें भारतीय साहित्यकारों में से अनेकों के विवरण बिल्कुल बदल गये, अनेकों लेखकों को उत्कृष्ट सम्मान का पात्र समझा गया। इनमें रूडयार्ड किपलिंग भी हैं जो भारत सम्बन्धी विषयों पर कथासाहित्य के सुप्रसिद्ध लेखक थे। प्रथम संस्करण में उन्हें छिछला और अस्थायी रुचि का लेखक बताया गया था, तीसरे संस्करण में टैगोर को "एक महान् कवि और दार्शनिक" बताया गया है। इस नये संस्करण से पूर्व संस्करण के वे वाक्य निकाल दिये गये हैं जिनका आशय ऊपर उद्धृत है। उसके स्थान पर उनके बारे में ये विचार व्यक्त किये गये हैं।

"टैगोर ने बंगला और अंग्रेजी दोनों मे लिखा, कभी-कभी अपनी रचनाओं का अनुवाद भी किया, जैसे गीतों के संकलन-गीताजलि का और काव्य नाट्य "चित्रा" का। उनका बंगला उपन्यास "विनोदिनी" (1902) किसी भी भारतीय

द्वारा लिखा गया सर्वप्रथम उपन्यास माना जाता है। इसका अंग्रेजी अनुवाद (होनोलूलू, 1965) टैगोर के जीवनीकार कृष्ण कृपलानी ने किया है जो इन्डियन नेशनल एकेडमी आफ लैटर्स (साहित्य अकादमी) के सचिव भी हैं। अपने अनुयायी दार्शनिक राष्ट्रपति सर सर्वपल्ली राधाकृष्णन की तरह जिन्होंने "फिलोसफी ऑफ रवीन्द्रनाथ टैगोर" तथा "ईस्टर्न रिलीजन एण्ड वेस्टर्न थॉट" पुस्तक लिखी है, टैगोर भी पाश्चात्य शिक्षा और प्राच्य तत्वदर्शन के बीच समन्वय सेतु का निर्माण करना चाहते थे। उन्होंने शान्तिनिकेतन बोलपुर में इसी उद्देश्य से एक अन्तर्राष्ट्रीय विश्वविद्यालय भी स्थापित किया था। उन्होंने अपने देश पर ब्रिटिश सरकार द्वारा किये जा रहे अत्याचारों के विरोध में 1919 मे "नाईट" की उपाधि वापस लौटा दी थी। फॉर्स्टर, डार्लिंग, वूल्फ और टोम्पसन तथा इनसे पूर्व हुए कवि और यात्रा लेखक विलफ्रेड ब्लन्ट (आइडियाज अबाउट इण्डिया, 1885, के लेखक) आदि अनेक लेखक भारत को स्वाधीनता दिये जाने के पक्ष मे थे जिस प्रकार कि किपलिंग और उनकी पीढ़ी के अन्य लोग इसके विरोध में थे। इन लेखकों के प्रभाव का ही यह आंशिक परिणाम था कि 1947 में सत्ता का हस्तान्तरण शान्तिपूर्वक हो गया।"

इस संस्करण में टैगोर के उक्त मूल्यांकन के बाद महात्मा गांधी और जवाहरलाल नेहरू का जिक्र है जिन्हें अंग्रेजी का अच्छा लेखक बताया गया है। समय बदलने के साथ ही मूल्यांकन के नजरिये का इस प्रकार बदलना कोई नई बात नहीं है। स्वयं महात्मा गांधी के साथ ग्रेट सोवियत एनसायक्लोपेडिया में यही हुआ था। इस विश्वकोष के पहले सस्करण मे उन्हे बनिया जाति का एक ऐसा प्रतिक्रियावादी बताया गया था "जिसने अपने देशवासियों को धोखा दिया और साम्राज्यवादी ताकतों का साथ दिया। संन्यासियों की नकल करते हुए तथा गुलामी के विरुद्ध स्वतंन्त्रता संग्राम के नेता और अंग्रेजों का दुश्मन होने का पाखण्ड करते हुए धार्मिक पूर्वाग्रहों को भुनाया।" लेकिन जब समय ने पलटा खाया तो इसी विश्वकोष के नये सस्करण मे (1971) उनका विवरण बदल गया। समय के साथ बदलते इन मानकों में अन्तर इतना सा है कि वह एक जनवादी देश द्वारा छपाया हुआ व्यक्ति-परिचय था और यह साहित्य का इतिहास है जिसके मानदण्ड सामान्यतः जल्दी-जल्दी नहीं बदला करते।

—o—

सांझी कला : राजस्थान की संस्कृति में

घर आंगन सजाने की ललक हमारे देश की बहुत सी लोक कथाओं के मूल में है। मांडना, अल्पना, भित्ति चित्र आदि न जाने कितनी विधाओं में हमारी ग्राम-ललनाओं ने अपने आवासीय परिवेश को लालित्य दिया है। इस देश के प्रत्येक अंचल में इस प्रकार की सज्जा-कलाओं की अपनी अपनी समृद्ध परम्पराएं हैं। ऐसी ही एक कला है जिसका जन्म तो ब्रजभूमि में हुआ पर निखर संवर कर उत्तर भारत के कोने-कोने में फैल गई। इसका नाम है–साझी कला। सूखे रंगचूर्ण से दीवार पर या आंगन पर रंग-बिरंगे चित्र-फलक लिखना इस कला का प्रमुख अंग है। इस कला के उद्‌गम के बारे में विद्वानों का मानना है कि इस कला का प्रारम्भ मंदिरों में देवमूर्ति के सामने फूलों और रंगों से सजावट के लिए हुआ होगा। 'सांझी' का शाब्दिक अर्थ है–सजावट। यह संस्कृति के शृंगार या सज्जा से बना है। कुछ विद्वानों ने इसे भ्रमवश 'संध्या' से निकला हुआ मान लिया और पुराणों में सांध्यकालीन पूजोत्सव का जहां कहीं उल्लेख मिला, इसका उद्‌गम वहीं से बताया जाने लगा। उनका मानना है कि सांझी पूजने की इस परम्परा का मूल श्रीमद्भागवत में है। उसके अनुसार शरद काल में कुंवारी गोप-कन्यकाओं ने श्रीकृष्ण को वर रूप में प्राप्त करने के लिए एक मास तक शरद की सांझ में गौरी पूजन किया था। कहते है तभी से ब्रज में "साझी पूजने" की परम्परा चली। पुराणों इसका उल्लेख जिस किसी प्रसंग में हुआ हो, यह प्रायः सभी मानते हैं "साझी कला" का उद्‌गम ब्रजभूमि के मन्दिरों में हुआ। पुष्पों, पत्तों, रंगों आदि से मन्दिरों के प्रांगण सजाने में उपासक को आराध्य के प्रति अनुराग प्रकट करने का एक मनोहर प्रकार उपलब्ध हो गया। धीरे-धीरे यह एक कला के रूप में परिष्कृत होता गया। मन्दिरों से बाहर साझी कला विचरण करने लगी। ब्रजभूमि से निकल कर वह राजस्थान, हरियाणा, मध्यप्रदेश आदि में फैली और पुष्पों, कौड़ियों, गोबर की आकृतियों आदि सभी सजावट के माध्यमों का प्रयोग इसमें होने लगा।

साझी का कोट या 'चित्रपट' सजाने की कलात्मक परम्परा ब्रज के बाहर सभी प्रदेशों में वैष्णव भक्ति के प्रसार के साथ-साथ पहुंचती गई। यह उल्लेखनीय

है कि राजस्थान में वैष्णव भक्ति की परम्परा यों तो बहुत पुरानी है क्योंकि प्राचीन माध्यमिका जैसी नगरियों में भी वासुदेव भक्ति के उल्लेख मिलते हैं जिनके प्रमाणस्वरूप आज भी कुछ शिला लेख पाये जाते हैं किन्तु मुगल काल में भक्ति आन्दोलन के प्रसार के साथ राजस्थान में वैष्णव भक्ति के सभी सगुण सम्प्रदायों का बहुत व्यापक प्रसार हुआ था। इसके फलस्वरूप राजपूताने की देशी रियासतों में कृष्ण के मन्दिरों की बहुत बड़ी संख्या पाई जाती है। राजस्थान के कलाकारों ने इन मन्दिरों में अन्य कलाओं के साथ सांझी कला को भी परिष्कृत रूप देकर कला के सर्वोच्च शिखर तक पहुंचा दिया। जिस स्थान पर सांझी के चित्रपट सजाये जाते हैं वह अब भींत पर न होकर जमीन पर समतल होने लगा है। एक अष्टकोण चबूतरा बड़ी मेहनत से बनाया जाता है और उसे समतल किया जाता है। बहुधा यह मिट्टी का होता है जिसे बराबर गीला रखा जाता है ताकि रंग चूर्ण उस पर चिपक जायें, उड़ें नहीं। इस गीली मिट्टी को सुघड़ बनाने के लिए उसमें कुछ अन्य पदार्थ भी मिलाये जाते हैं। इस अष्टकोण फलक में चारों ओर बेलबूटे और बीच में भांति-भांति के चित्र, आकृतियां और प्राकृतिक दृश्य आंके जाते हैं। यह चित्रांकन रंगों या तूलिकाओं से नहीं बल्कि बड़े करीने से मजबूत कागज पर काट कर बनाये गये स्टेन्सिलों को उस चबूतरे पर रख कर उसमें अलग-अलग रंगों की आकृतियां बनाने के उद्देश्य से गुलाल या रंग मिले आटे आदि के पाउडर से किया जाता है और इसी रंग चूर्ण से लिखी पशु-पक्षी, देव, मानव, चन्द्र सूर्य आदि की रंग बिरंगी आकृतियां उत्कृष्टता का प्रमाण मानी जाती हैं। वैसे ये सांचे अधिकांशतः बेलबूटों तथा ज्यामितिक आकृतियों की शृंखला के रूप में मजबूत कागज पर काटकर तैयार किये जाते हैं। रंगचूर्ण के प्रयोग की दृष्टि से महाराष्ट्र की रांगोली कला का यह उत्तरी रूप सा लगता है। कलाकार कागज के छोटे-छोटे कटे हुए सांचों से (जिन्हें स्टेन्सिल कहा जा सकता है) इन आकृतियों में यह सूखा रंगचूर्ण एक-एक टुकड़े में भरता जाता है। बीच में कृष्ण गोपिकायें, गाय-बछड़े और उसके चारों ओर अपनी कल्पना के अनुकूल देवी-देवताओं और पशु-पक्षियों के दृश्यांकन अलग-अलग रंगों में एक-एक करके आठ-दस घण्टे लगा कर इतनी बारीकी से किये जाते हैं कि इस सतरंगी सांझी की अद्भुत कला देखते ही बनती है।

वैसे तो शरद् काल में, श्रीमद्भागवत में सांकेतिक परम्परा के अनुरूप, आश्विन, कृष्ण एकादशी से अमावस्या तक वैष्णव मन्दिरों में अनेक प्रकार के चित्रफलक, भित्तिचित्र आदि बनाकर सांझी सजाने की परम्परा है पर उत्सवों के समय, शरद् ऋतु के अलावा भी अन्य अवसरों पर कभी भी सांझी के चित्र बनाये जा सकते हैं। इनकी विशेषता यह होती है कि ये अस्थायी होते हैं और उत्सव की

समाप्ति के साथ हटा दिये या मिटा दिये जाते हैं। इसीलिए इन्हें कहीं भी जमीन पर गीली मिट्टी का चबूतरा बनाकर निर्मित किया जाता है।

सांझी के विविध चित्र फलकों में से एक का नमूना पिछले दिनों जयपुर में दिखाया गया था यह ब्रज के नहीं राजस्थान के ही एक कलाकार का सृजन था। इसमें बीच में श्रीनाथ जी का चित्र था दोनो ओर गणेश और शिव-पार्वती और उनके नीचे राजस्थानी संस्कृति के छड़ीदार और चोबदार मध्यकालीनप्रकाशदीपो के नीचे खड़े थे। इस कृति मे राजस्थानी कला और मुगल चित्रकला के प्रभावो का मिश्रण उल्लेखनीय था नीचे की ओर यमुना चित्रित थी जिसमे जलचर दिखलाई दे रहे थे। ऊपर आकाश के झीने बादलो में चांद सूरज और तारे थे। दोनो कोनो पर राजस्थानी 'झूला" से सजा हुआ हाथी था। सांझी का यह नमूना कानपुर जन्मे तथा वर्तमान में राजस्थान निवासी श्री रत्नगर्भ शास्त्री की कृति थी। यह उल्लेखनीय है कि इस कृति मे जिन "स्टेन्सिलो" तथा अन्य उपकरणो का प्रयोग किया गया था वे ब्रजभूमि से नहीं बल्कि पूर्वी उत्तर प्रदेश से उपलब्ध किए गए थे। उक्त कलाकार ने राजस्थान के विभिन्न नगरो के मन्दिरों में अपनी सांझी कला का प्रदर्शन किया है। राजस्थान में विशेषकर भरतपुर, नाथद्वारा आदि क्षेत्रों मे सांझी के स्टेन्सिल काटने वाले कलाकार आज भी उपलब्ध हैं किन्तु धीरे-धीरे कम होते जा रहे हैं। जयपुर, नाथद्वारा, कांकरौली और कामवन के मन्दिरों मे सांझी सजाने की परम्परा चलती रही है। इसके उपकरण इन मन्दिरों में ही उपलब्ध हो जाते हैं। जयपुर के मन्दिरो में भी ऐसे चित्रफलक बहुधा प्रदर्शित किये जाते है। ब्रज मे भी इस प्रकार दृश्यफलक के चारो ओर जो बेल बनाई जाती है उसे 'मारवाड़ी" कहा जाता है। हो सकता है यह राजस्थान के योगदान का संकेत हो।

राजस्थान में नाथद्वारा के श्रीनाथजी, कामवन के गोकुलचन्द्रमाजी तथा अन्य नगरों के वल्लभसंप्रदायानुयायी मन्दिरो मे जब से वैष्णव भक्ति आई तभी से भक्ति की धारा के साथसाथ कला कीअन्तर्धारा भी यहा की संस्कृति में बस गई। इन मन्दिरों मे ब्रज के भक्ति अन्य उत्सवो की तरह शरद मे सांझी का उत्सव भी मनाया जाता है। उस समय प्रत्येक मन्दिर मे सजावट के लिये इस प्रकार की कलाकृतियां बनाने की होड़ सी लगी रहती है। इसमे बारीकी और चमत्कार पैदा करने की दृष्टि से न केवल चबूतरे पर बल्कि चौड़ी विशाल थालों मे भरे पानी या अन्य सतहों पर इन्हीं स्टेन्सिलों से रंग बिरंगी सांझी बनाने के प्रयोग भी होते रहे हैं।

मन्दिरो से बाहर भी सांझी कला कुंवारी कन्याओं की एक लोक परम्परा के रूप मे जनजीवन मे गहरी गुंथ गई है। प्रायः समूचे उत्तर भारत मे गांव गांव और घर घर मे कुंवारी कन्याएं आश्विन कृष्ण एकादशी से आश्विन की अमावस्या तक 5 दिन इस प्रकार का चित्रफलक बनाकर

उसमें गौरी पूजन किया करती है जिसे सांझी पूजना कहते हैं। लोक संस्कृति का यह साझी पर्व दीवार पर रंगों या गोबर से बनाये गये चतुष्कोण "कोट" की पूजा करके मनाया जाता है। विश्वास किया जाता है कि जो कुमारी इस प्रकार नियमित पूजा करती है उसे योग्य वर प्राप्त होता है। ब्रज, राजस्थान, हरियाणा और मध्यप्रदेश के कुछ भागो में कन्याओं द्वारा विवाह से पहले इस प्रकार सांझी पूजन करने की परम्परा सुप्रचलित है। विवाह होते ही इस पूजा की अनिवार्यता समाप्त हो जाती है। सांझी के अनेकों लोकगीत इन प्रदेशों की प्रत्येक जनभाषा मे पाये जाते हैं, जो पूजा के समय गाये जाते है। हरिदासी, राधावल्लभी आदि वैष्णव भक्ति परम्पराओं मे तथा वल्लभ सम्प्रदाय के मन्दिरों में सांझी कला को धार्मिक रीति-रिवाजों के साथ जोड़कर इस लोक कला को एक तरह से प्रश्रय दिया गया था। स्वामी हरिदास का एक पद साझी लीला के बारे में मिलता है जिसमें कृष्ण राधा से मिलने का तरीका लड़की का वेष बनाकर सांझी पूजने जाने की प्रक्रिया द्वारा निकालते हैं। इससे वृन्दावन के रसिक सम्प्रदायों में भी सांझी की पुरानी परम्परा होने का प्रमाण मिलता है। वल्लभ सम्प्रदाय के मन्दिरो में इस परम्परा को विकास और विस्तार मिला यह भी स्पष्ट है।

—o—

प्राचीन भारत की चौंसठ कलाएँ

गाना, बजाना, नृत्य, चित्रकला, छपाई, मांडना, पुष्पसज्जा, सुगन्ध निर्माण, फर्श सजाना, शय्यासज्जा, तैरना, डुबकी, फैन्सी ड्रेस, द्वारसज्जा, शिरोवेष्टन, अभिनय, श्रृंगार, शरीर प्रसाधन, गहने, जादू के खेल, सौन्दर्य प्रसाधन, हाथ की सफाई, पाकविद्या, पानविद्या, सिलाई, बुनाई, तालवाद्य, पहेली, अन्त्याक्षरी, वाचन कला, कहानी, समस्या-पूर्ति, चारपाई-आसनादि की बुनाई, बढ़ईगिरी, खिलौने, भवन-निर्माण, रत्नकला, धातुकर्म, जड़ाई, उद्यानकला, मुर्गे, मेंढे आदि लड़ाना, पक्षी पालना, मालिश व केशसज्जा, गुप्तभाषण, गुप्तलेखन, कहावतें, बेलबूटे, मूकाभिनय, मशीन चलाना, रटाई, समूहगान, वार्ताकला, पद्यनिर्माण, पर्यायकला, छन्दोज्ञान, अनुवाद, छल, रफू, ताश आदि खेल, पासे के खेल, बच्चों के खेल, क्रीडायें, और व्यायाम।

—(वात्स्यायन के कामसूत्र के आधार पर)

नैतिकता : एक प्रश्न

एक प्रश्न बहुधा पूछा जाता है। क्या नैतिकता स्वैच्छिक होती है या सामाजिक बन्धन ?

इस प्रश्न के उत्तर को मैं इन शब्दों में रखना चाहूंगा "नैतिकता एक आत्म स्वीकृत (स्वारोपित) बन्धन है" अर्थात् किसी युग विशेष एवं संस्कृति विशेष की समाज व्यवस्था के अन्तर्गत मानव-समाज द्वारा अपने आप पर स्वेच्छा से लगाया हुआ एक नियम या बन्धन है। यह मैं इसलिए कहता हूं कि "नैतिकता" वस्तुतः एक निरपेक्ष एवं देशकालातीत सत्य नहीं है जैसा कुछ लोग समझते हैं। मानवमात्र के लिए कुछ मूलभूत नैतिक सत्य देशकाल निरपेक्ष अवश्य हो सकते हैं किन्तु उन्हें नैतिकता के नाम से कोई नही पुकारता। नैतिकता एक सामाजिक स्वीकृति है जो युग-विशेष और देश-विशेष के अनुसार बदलती रहती है। इसलिए वह एक पारम्परिक नैतिकता बन जाती है जिसके लिए अंग्रेजी का पर्याय कन्वेंशनल मोरेलिटी सुप्रचलित है।

यह "कनवेंशनल मोरेलिटी" या पारम्परिक नैतिकता तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक एव राजनैतिक प्रतिक्रियाओं से प्रभावित होती रहती है। उन्हीं के अनुसार एक युगानुरूप नैतिकता समाज द्वारा एक सामाजिक अनुबन्ध के रूप में स्वीकृत कर ली जाती है। यह चाहे कभी-कभी बन्धन लगता हो किन्तु यह एक आत्म-स्वीकृत बन्धन है।

नैतिकता बन्धन क्यों लगता है ? इसका भी एक कारण है। जब नये युग के सामाजिक मूल्य बदलते हैं तो पुराने युग की नैतिकता के मापदंड भी बदलते हैं। किन्तु सक्रान्ति-काल में कुछ पुरानी नैतिकता के मूल्य बचे रह जाते हैं जो नये युग के समाज को बन्धन से लगते हैं। सक्रांति-काल के समाप्त हो जाने पर नये नैतिकता के मूल्य पूर्णतः लागू हो जाते हैं, और वे बन्धन नही लगते। भारत में भी आज के बदलते युग के मूल्य तेजी से आ रहे हैं। इसीलिए पुरानी नैतिकता बन्धन लगती है। किन्तु नये नैतिक मूल्य जो हमने अपने आप बनाये हैं उनका स्थान लेते जा रहे हैं। इसीलिए अगली पीढ़ी के लिए यह नैतिकता आत्म-स्वीकृत होगी, बन्धन नहीं। इसी-लिए मैं कहता हूं कि नैतिकता यदि कभी-कभी (संक्रान्ति-काल में) बन्धन लगती भी है तो भी वह आत्म-स्वीकृत बन्धन ही है, स्वारोपित सामाजिक नियम है। शिष्टाचार की, पारिवारिक सम्बन्धों की, स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों की, सभी प्रकार की नैतिकता, युग और संस्कृति के अनुरूप, किसी देश विशेष के मानव समाज के कुछ स्वारोपित मूल्यों के रूप में ही होती है। यही कारण है, प्राच्य और पाश्चात्य नैतिक मूल्य कुछ विभिन्न हैं। जो नैतिकता पाश्चात्य देशों में प्रचलित है, उसे भारत में अनैतिक समझा जा सकता है।

—०—

श्रमण संस्कृति का प्रभाव

श्रमण संस्कृति भारत की अत्यन्त प्राचीन संस्कृति है। जैन धर्म के प्रारम्भ के बारे में विचार करते समय पहले कुछ विद्वान उसे बौद्ध धर्म से अर्वाचीन मानने के कुछ आधार बताने लगे थे किन्तु अब प्रायः सभी विद्वान उसे बौद्ध धर्म से भी प्राचीन मानते हैं। यह निर्विवाद है कि इन दोनों धर्मों और दर्शनों का प्रभाव परवर्ती संस्कृति एवं चिन्तन पर पड़ा है। उसका आकलन अब तक पूरा नहीं हुआ है और इस दिशा में शोध करने की अब भी गुंजाइश है। इस प्रकार की स्थापनाएँ तो हो ही चुकी हैं कि शंकराचार्य के दर्शन पर बौद्ध धर्म का गहरा प्रभाव था। उनके मायावाद और प्रातिभासिक सत्ता वाले सिद्धान्त पर बौद्ध दर्शन के दृष्टि-सृष्टिवाद, प्रतीत्य-समुत्पादसिद्धान्त आदि का प्रभाव बतलाते हुए उन्हें अर्धवैनाशिक और प्रच्छन्न बौद्ध भी कहा जा चुका है। इसी प्रकार जैन दर्शन के प्रभाव के सन्दर्भ में दो बातें विद्वानों द्वारा कही गयी हैं। एक तो यह कि महावीर के अहिंसा के सन्देश का प्रभाव सभी दर्शनों और धर्मों पर पड़ा है। अहिंसा का सिद्धान्त वैदिक कर्मकाण्ड के विरोध में जाता था क्योंकि पशु बलि उससे संगत नहीं पड़ती थी। इसीलिए पशु बलि का विरोध होने लगा। प्रत्येक कार्य में अहिंसा का दृष्टिकोण (जो एक सिद्धान्त मात्र न होकर जीवन के प्रति एक दृष्टिकोण है), पूरे देश के चिन्तन पर छा गया था। मनु ने धर्म के लक्षणों में अहिंसा आदि उन सभी महाव्रतों को गिना दिया है जो महावीर ने बताये थे। उससे पूर्व वैदिक कर्मकाण्ड आदि में तथा धार्मिक दृष्टिकोण में अहिंसा का इतना प्रभाव एवं उसका पूर्ण क्रियान्वयन नहीं पाया जाता।

जैन धर्म का दृष्टिकोण शरीर की वृत्तियों का दमन करने के प्रति समर्पित है। उनके कर्म-सिद्धान्त के अनुसार भी शारीरिक वृत्तियों का दमन आवश्यक है अन्यथा कर्म का लेप बंधन का कारण हो जाता है। इसीलिये धर्म के दस लक्षणों में एक 'तप' को बहुत महत्त्व दिया गया था। इसी का अंग है उपवास जिसका सिद्धान्त है शरीर का इस प्रकार संयम करना कि इच्छाएँ पैदा ही न हों। वृत्तियों के इस अनुशासन तप को, उपवास को जैनधर्म में बहुत महत्त्व दिया गया है। इसीलिये जीवन में कठोर संयम, आचरण के बंधन, भाँति-भाँति के परीषह (जैन में क्षुधा, तृष्णा आदि के दमन द्वारा आचरण पर कठोर संयम रखना जरूरी बताया गया है) ये सब जैन आचार के प्रमुख अंग हैं। इसी के क्रम में अन्न और जल का त्याग करने वाले को श्रद्धा की दृष्टि से देखा जाता है। भोजन के त्याग को उपवास का प्रमुख लक्षण माना गया है (चाहे यह कहा जाता हो कि कषाय, विषय और आहार तीनों के त्याग का नाम उपवास है, केवल लंघन का नहीं।) उपवास के आचार का इतना महत्त्व इससे पूर्व कभी नहीं था। वैदिक संस्कृति में व्रत तो है, उपवास नहीं। यह श्रमण संस्कृति का प्रभाव ही माना जा सकता है। सम्भवतः इसी का आधार ले कर परवर्ती हिन्दू धर्म शास्त्रों में किसी पाप के प्रायश्चित के रूप में 'उपवासों' का भी विधान किया जाने लगा जिनमें चान्द्रायण जैसे व्रत आते थे और उनमें यह

विधान था कि आहार को किस प्रकार क्रमिक रूप से कम किया जाये। इससे वृत्तियों का दमन होगा और प्रायश्चित हो जाएगा।

इसी क्रम मे जैन आचार के कुछ अन्य प्रभाव भी सनातनी संस्कृति पर देखे जा सकते हैं। श्रमण संस्कृति में वर्षाकालीन चार महिनों मे साधुओं और मुनियों द्वारा चातुर्मास्य किया जाता है अर्थात् वे इन चार महिनों में यात्रा नही करते, एक जगह रह कर धर्मदेशना (उपदेश) करते हैं। महावीर ने गौतम गणधर को प्रथम धर्म देशना श्रावण कृष्णा प्रतिपदा को दी थी। जैन आचार्यों के इस चातुर्मास्य के कारण ही वर्षा कालीन चार महिनो में जैनों के सारे प्रमुख धार्मिक पर्व केन्द्रित हो गये हैं। इस चातुर्मास्य की परम्परा का प्रभाव सनातन संस्कृति पर भी पड़ा लगता है। वेद काल मे ऋषियों या संन्यासियों के चौमासे का कहीं कोई उल्लेख नहीं मिलता है। वैसे श्रावण पूर्णिमा को वेद का स्वाध्याय करने का उल्लेख अवश्य मिलता है जिसे उपाकर्म कहा जाता था किन्तु चार महिनों मे स्थिर रहने का विधान नही मिलता। यह परम्परा बाद मे ही शुरू हुई जिसके अनुसरण में आजकल शंकराचार्य जैसे संन्यासी भी आषाढ से कार्तिक तक चातुर्मास्य करते हैं। यह जैन आचार का प्रभाव इसीलिए माना जा सकता है कि उससे पूर्व के किसी भी सूत्र, पुराण या उपनिषद् मे ऐसा उल्लेख नही है। आजकल इन चार महिनों में देवताओं के सोये होने की जो अवधारणा मिलती है या विष्णु के शेषनाग पर चार महिनो तक सोए होने की जो धारणा है वह श्रमण संस्कृति का प्रभाव मालूम पडता है। इसी कारण इन दिनों विवाह मुहूर्त नही निकलता जबकि धर्म सूत्रों या ब्राह्मण ग्रंथो मे ऐसा कोई निषेध नहीं पाया जाता। इन महिनो में तो जन्माष्टमी, गणेश चतुर्थी, नवरात्रि, आदि अनेक उत्सव होते हैं। यह मान्यता पहले अवश्य थी कि बरसात में राजा लोग चढ़ाई नही करते थे। विजयदशमी से ही विजय यात्रा शुरू होती थी (यद्यपि यह परम्परा भी बहुत प्राचीन नही है।) इससे पूर्व उत्तरायण और दक्षिणायन का उल्लेख अवश्य मिलता है और उत्तरायण में मृत्यु होना अच्छा माना जाता था, यह भी मिलता है किन्तु चातुर्मास्य की परम्परा का उल्लेख इससे पूर्व नही पाया जाता।

इस प्रकार के अनेक अध्ययन किये जा सकते हैं जिनमें श्रमण संस्कृति का प्रभाव अन्य धर्मों पर तलाशा जा सकता है। इसका उद्देश्य केवल वस्तुनिष्ठ अध्ययन ही होना चाहिये. पारस्परिक ऊंचनीच और तारतम्य बताने का कोई आशय नहीं है। कुछ विद्वानों ने तो यह भी माना है कि पूजा की प्रथा भी श्रमण संस्कृति का प्रभाव है। अन्यथा पहले केवल यज्ञ होते थे जो पशु कर्म है, पूजा जो पुष्प कर्म है, बाद में शुरू हुई। ऐसे अध्ययनों के लिए प्रमाण और पुष्ट आधार खोज कर वस्तुस्थिति सामने रखना विद्वानों की रुचि का एक कार्य हो सकता है।

□ कलानाथ शास्त्री

संस्कृत, हिन्दी एवं अंग्रेजी साहित्य का अध्ययन कर साहित्याचार्य, एम. ए. आदि उपाधियां प्राप्त कीं। अंग्रेजी साहित्य के प्राध्यापक, भाषा विभाग के सहायक निदेशक एवं उपनिदेशक, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी के भाषा संपादक, आर. एल. सहरिया राजकीय कालेज, कालाडेरा के प्राचार्य आदि पदों पर कार्य। संप्रति भाषा विभाग में निदेशक के रूप में कार्यरत।

संस्कृत, हिन्दी एवं अंग्रेजी में ग्रन्थ लेखन, अनुवाद, संपादन तथा शोधलेख एवं अन्य कृतियों का प्रणयन 1952 से निरंतर। प्रमुख कृतियां: संस्कृत में: विद्वज्जनचरितामृतम् (जीवनी संकलन) जीवनस्य पृष्ठद्वयम्, (डायरी शैली में उपन्यास) हिन्दी में अनुवाद : दासगुप्त कृत भारतीय दर्शन का इतिहास (भाग 1), जोन पासमोर कृत दर्शन के सौ वर्ष आदि। भारती, स्वरमंगला आदि संस्कृत पत्रिकाओं एवं आलोक, भाषा परिचय आदि हिन्दी पत्रिकाओं का तथा संस्कृत कल्पतरू शोध-ग्रन्थ एवं अनेक अभिनन्दन ग्रन्थों का संपादन।

संस्कृत में 50 शोधलेख तथा 80 अन्य लेख, नाटक, कविताएं आदि। हिन्दी में 80 शोधलेख तथा 200 अन्य कृतियां प्रकाशित। आकाशवाणी से 200 वार्ताएं, संस्कृत कविता, कथा, नाटक आदि प्रसारित। विभिन्न भाषाओं में पारस्परिक अनुवाद। हिन्दी तथा संस्कृत की अनेक संस्थाओं से अध्यक्ष, उपाध्यक्ष आदि रूपों में संबद्ध।